हमारा युग निर्माण सत्संकल्प

–हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।

–शरीर को भगवान का मन्दिर समझकर आत्म- संयम और [illegible]मितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।

–मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाये रखने के [illegible] स्वाध्याय एवं सत्संग की [illegible]वस्था रखे रहेंगे।

–इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का सतत् अभ्यास करेंगे।

–अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।

–मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।

–समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छि[illegible] अंग मानेंगे।

–चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।

–अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।

–मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलता[illegible] [illegible]ोग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।

–दूसरों के साथ वह व्यवहार न करेंगे, जो हमें अपने लिये पसन्द नहीं।

–नर–नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।

–संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य प्रसार के लिये अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।

–परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्व देंगे।

–सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नव- सृजन की [illegible]तिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।

–राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।

–मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है, इस विश्वास के आधार पर हमारी [illegible]धता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे, तो युग अवश्य बदलेगा।

–"हम बदलेंगे–युग बदलेगा", "हम सुधरेंगे–युग सुधरेगा", इस [illegible] पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।

प्रसुप्त चेतना का अभिनव जागरण
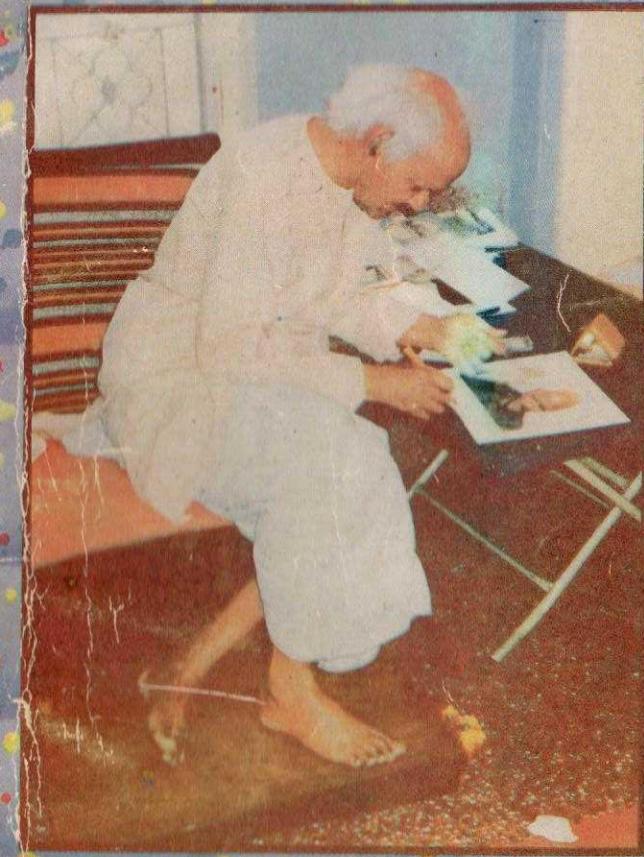
–श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रसुप्त चेतना का अभिनव जागरण

*

लेखक:

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ० प्रणव पंड्या (एम.डी.)

*

प्रकाशक:

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि मथुरा

*

द्वतीय बार] १९९३ [मूल्य-४ रु०

विषय सूची

उपार्जन ही नहीं, सदुपयोग भी

अभी भी संसार के कितने ही क्षेत्रों में ऐसे पिछड़े स्तर के मनुष्य रहते हैं, जिनके स्तर एवं साधनों में आदिम काल की अपेक्षा बहुत थोड़ा ही सुधार परिष्कार हुआ है। इसका कारण एक ही है सभ्य संसार के साथ घुलने मिलने से कतराना और उपायों को अपनानेके लिए आकर्षित न होना जिनके सहारे सुविधा साधन बढ़ाये और प्रगति के उपलब्ध साधन हस्तगत किये जा सकते हैं। अलगाववादी प्रवृत्ति से इर्द-गिर्द के क्षेत्र में बढ़े चढ़े विकास क्रम के साथ उनका संबंध जुड़ न सका। एकाकी अलग थलग व्यक्ति अपनी अविकसित अन्तः प्रेरणा के आधार पर सर्वतोमुखी विकास कर सके यह संभव नहीं। पिछड़े हुए क्षेत्रों और वर्गों में यह कठिनाई छाई रही है कि वे सभ्यता को अपनाने के लिए स्वेच्छा पूर्वक आगे बढ़ नहीं सके। दूसरों ने उनके पीछे पड़कर येन केन प्रकारेण उन्हें प्रगतिशीलता के साथ संबंध जोड़ने के लिए बाधित भी नहीं किया। फलस्वरूप आदिम काल से मिलती जुलती परिस्थिति से घिरे हुए अनेक मनुष्यों को, कबीलों को अभी भी दयनीय स्थिति में गुजर करते हुए देखा जा सकता है।

यह तथ्य न्यूनाधिक मात्रा में अधिकांश लोगों पर लागू होता है। उनकी प्रगति, सम्पन्नता, चतुरता एक पक्षीय रहती है। शरीर को निर्वाह के, मनोरंजन के साधन चाहिए। उन्हें जुटाने में ही अधिकांश समय, श्रम, मनोयोग एवं अनुभव खप जाता है। ऐसा आमतौर से होता है क्योंकि शरीर को ही सब कुछ माना जाता है, उसी को अपना समग्र स्वरूप समझा जाता है और शारीरिक प्रसन्नता, सुविधा का सम्पादन ही सफलता का चिन्ह माना जाता है। अभिरुचि ही कोई दिशा धारा अपनाती है। जिस दिशा

में तत्परता, तन्मयता बढ़ती है, उसी क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती हैं । शरीर को सुविधा देने वाली साधन सम्पदा का उपार्जन उपभोग ही जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है । इसलिए उसी स्तर के उपार्जन-अभिवर्धन का माहौल बना और उत्साह वर्धक स्तर की सफलताएँ प्राप्त हुई हैं । मनः स्थिति ही परिस्थितियों की निर्मात्री है । इच्छा, संकल्प और पुरुषार्थ का समन्वय ही उस उपार्जन का श्रेयाधिकारी माना जा सकता है, जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हम सब को उपलब्ध है ।

प्रस्तुत प्रगति को भौतिक प्रगति कहा जाता है,क्योंकि उसमें पंचतत्वों से बने भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य पदार्थों को प्राप्त करना, उन्हें अनुकूल ढाँचे में ढालना, यही जीवन भर होता रहा है । जन्म से लेकर मरण पर्यन्त यही क्रम चलता रहता है । चिरकाल से इसी दिशा में सोचा जाता और प्रयास किया जाता रहा है । फलस्वरूप वे सुविधा सम्पदाएँ सामने हैं जो वैज्ञानिक अविष्कारों और निर्णयों के आधार पर विनिर्मित की गई हैं ।

विज्ञान के दो पक्ष हैं । एक पदार्थ विज्ञान, दूसरा चेतना विज्ञान "आत्म विज्ञान ।" दोनोंका अपना-अपना कार्यक्षेत्र और अपना-अपना प्रतिफल है । चेतना के-आत्मा के संबध में लोग कुछ कहते सुनते तो रहते हैं, पर उस सत्ता का स्वरूप, उद्देश्य, आनन्द खोजने के लिए उत्साहित नहीं होते । कारण भौतिक क्षेत्र के लिए आकर्षित उत्तेजित हुई मनोभूमि अपना समूचा चिन्तन और कर्तृत्व इसी एक केन्द्र पर नियोजित किये रहती है । यह सब चलता और बढ़ता भी इसलिए रहता है कि उसके लाभ परिणाम तत्काल प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । जबकि चेतना का आत्मिक क्षेत्र गहराई में उतरने, अन्तर्मुखी होने और बारीकी से समझने पर ही स्पष्ट होता है । इतना झंझट कौन उठाये ? तात्विक दृष्टिकोण कौन अपनाये ? उथला स्वर उथली उपलब्धियों से ही संतुष्ट हो जाता है । बच्चों के लिए गुब्बारा,

झुनझुना, चाकलेट, बिस्कुट ही बहुत कुछ है । उसे बालू के घरौंदे बनाने और टूटी टहनियों के बगीचे लगाने में उत्साह रहता है क्योंकि उन कृतियों का प्रतिफल चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होता है । बाल बुद्धिकी सीमा प्रत्यक्ष वाद तक ही सीमित है । जो तत्काल हाथ लगा वही सब कुछ है । इन प्रयासों की मानवी परिणति प्रतिक्रिया क्या हो सकती है, यह सोच सकना दूरदर्शी विवेकशीलता का काम है । किन्तु कठिनाई यह है कि उस दिव्य दृष्टि को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला । कल्पना, विचारणा, कुशलता, चतुरता जैसे सभी पक्ष भौतिक उत्पादन, उपभोग में ही लगे रहते है । इतना अवसर अवकाश ही नहीं मिलता कि चेतना की सत्ता, शक्ति और महत्ता को गंभीरता पूर्वक समझने का प्रयत्न कर सके ।

शरीर प्रत्यक्ष दीखता है । वैभव प्रत्यक्ष दीखता है । विनोद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । वाहवाही लूटने में भी अहंता की पूर्ति होती है । इसी परिधि में सामान्य जन सोचते और दौड़ धूप करते पाये जाते हैं । इन संसाधनों से सम्पन्न बनाने में पदार्थ विज्ञान ने सहायता की है । जब ध्यान केन्द्रित हुआ तो इच्छा एवं खोज भी चल पड़ी । फलतः उपलब्धियाँ हस्तगत होती और बढ़ती चली गईं । स्थिति सामने है । प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, बल्ब, पंखे, हीटर, कूलर, तार, डाक, रेल, मोटर, जलयान, वायुयान कल कारखाने आदि अनेकानेक उपकरण सुविधा संजोने के लिए सामने खड़े हैं । यह समस्त संसार पदार्थ को अपने ढंग से ढालने और उसके उपयोग करने में नियोजित है । इनके सहारे सुविधा सम्पन्नता के नये नये क्षेत्र हाथ लगते चले गये हैं । भाषा, लिपि दर्शन, शिल्प, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में आश्चर्य-जनक अनुसंधान हुए हैं । युद्ध में प्रयुक्त होने वाले ऐसे अस्त्र-शस्त्र विनिर्मित हुए हैं जिनके सहारे एक सामान्य व्यक्ति क्षण भर में असंख्यों को धराशायी कर सकता है । यह सब पदार्थ विज्ञान की देन है । इनका यदि सदुपयोग बनपड़े तो निःसंदेह मनुष्य इतना सुखी,संतुष्ट, प्रसन्न एवं समुन्नत बन सकता

है, जितना कि स्वर्गलोक वासियों के संबंध में सोचते और वैसा सुयोग प्राप्त करने के लिए हम ललचाते रहते हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि तथाकथित प्रगति की चरम सीमा के निकट पहुँच जाने पर भी मानवी सत्ता दिन-दिन दीन-दुर्बल होती जाती है। अस्वस्थता, दरिद्रता, कलह, उद्वेग, अशान्ति, असुरक्षा, आशंका की विपन्नता सामने आती जाती है। अपराध तेजी से बढ रहे हैं। पारस्परिक अविश्वास भय आतंक की परिधि छूने लगा है। परिवार टूटते जा रहे हैं। जो किसी तरह एक घर में निवास करते देखे जाते हैं उनके बीच भी मनो, मालिन्य असंतोष अविश्वास सुलगता देखा जाता है। चैन कहीं नहीं किसी को नहीं, व्यक्तित्वों का स्तर गिर रहा है। प्रतिभाएं बुझ रही है। मानवी गरिमा को ज्वलन्त रखने वाली चिन्तन की उत्कृष्टता और चरित्र की आदर्शवादिता घटती मिटती जा रही है। मनुष्य शरीर धारण किये होने पर भी लोग श्मशानवासी भूत पलीत की मनःस्थिति लिये हुए डरता–डराता जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। दुर्व्यसनों की पकड़ इस प्रकार बढ़ती एवं प्रचण्ड होती जाती है, जिनकी तुलना पौराणिक कथा में ग्राह द्वारा ग्रसे गये गज से की जा सके।

वैयक्तिक, परिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में अनुपयुक्तता, अवांछनीयता के अराजकता स्तर के घटाटोप छाये हुए हैं। सम्पदा-सुविधा का बाहुल्य होते हुए भी उसके वितरण का समावेश नहीं हो रहा है। फलतः अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं। हर क्षेत्र में अपने अपने ढंग की उद्दण्डता उभर रही है। मर्यादाएं टूट रही हैं। वर्जनाओं की परवाह नहीं की जा रहीहैं।" जिसकी लाठी तिसकी भैंस "वाला" मत्स्य न्याय" व्यापक क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाता चला जा रहा है। ऐसी दशा में शान्ति की, एकता, समता की घटोत्तरी होते जाना स्वाभाविक है।

इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि एक ओर जहाँ सुविधा सम्पदा की बढोत्तरी होती जा रही है, वहां दूसरी ओर उनके लिए तरसने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। जिनके पास प्रचुर साधन हैं, वे मिल बाँट कर खाने की बात नहीं सोचते, वरन् उपभोग में आ सकने की सीमा से बाहर जो बचता है उसे विनाशकारी आत्मघाती, दुष्प्रयोजनों में लगा रहे हैं। फलतः उन्हें भी ईर्ष्या का, अनीति का कडुआ प्रतिफल हाथों हाथ भोगना पड़ता है। चैनसे वे भी नहीं बैठ पाते। जहां भूखसे अगणित लोग त्रास पाते हैं, वहां अधिक खाने से उत्पन्न अपच भी सुसम्पन्नों के लिए विपत्ति का कारण बनता है। सम्पन्न और विपन्न दोनों ही वर्ग अपने अपने ढंग से अपने-कारणों से दुख सहते और विपत्ति में फँसते देखे जाते हैं।

इन विसंगतियों का कारण एक ही है चेतना क्षेत्र में निष्ठा का अत्यधिक ह्रास। यदि मानवी गरिमा को ध्यान में रखा गया होता, आदर्शों का परिपालन बन सका होता तो यह अवांछनीयता की स्थिति न आती। इन दिनों वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में कुप्रचलन संव्याप्त है। उनका प्रभाव सामान्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता। संचित कुसंस्कार भी उभरते रहते हैं। देखा यही जाता है कि पतन की दिशा में अनायास ही मन चलता है और ऐसा कृत्य बन पड़ता है, जिसे पशु प्रवृत्तियों का. पक्षधर ही कहा जा सके। इन कारणों से जन सामान्य की मनःस्थिति पतनोन्मुख ही बनी रहती है। इसी का परिणाम है कि शालीनता को अक्षुण्ण रख सकना कठिन हो जाता है। भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट चरित्र का परिणाम वैसा ही होना चाहिए जैसा कि इन दिनों व्यापक रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है।

हाथी को अंकुश से, घोड़े को लगामसे, ऊँट को नकेल से बैल को डण्डे के सहारे वशवर्ती रखा जाता है और उपयोगी कृत्य करने के लिए बाधित किया जाता है। मनुष्य को धर्म धारणा के सहारे कुकर्मों से बचाया और सन्मार्ग पर चलाया जाता है।

उपार्जन एक बात है और सदुपयोग दूसरी। शारीरिक और मानसिकक्षमता के आधार पर किसी भी प्रकार का उपार्जन किया जा सकता है किन्तु उसका सदुपयोग दूरदर्शी विवेक के बिना, नीति निष्ठा के बिना बन नहीं पड़ता। उस स्तर की क्षमता का होना भी सुसंतुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

परिमार्जन-परिशोधन का क्रम न चले तो गदंगी एकत्रित हो जाना स्वाभाविक है। शरीर में अनेकों मल निरन्तर बनते रहते हैं। उनका निष्कासन मल-मूत्र, श्वांस, स्वेद आदि मार्गों द्वारा होता है। घर आँगन में आये दिन जमा होने वाला कचरा झाड़ू से बुहारा जाता है। बालों और वस्त्रों की सफाई पानी और साबुन से होती है। मन में आन्तरिक दुर्बताओं और बाहरी कुप्रभावों से मनुष्य स्वभावतः वैसे आचरण करता है जैसा कि वह कीट पतंगों और पशु पक्षियों की पिछड़ी योनियों में करता रहा है। इस पतनोन्मुख प्रवाह को विवेक और संयम के द्वारा मर्यादाओं और वर्जनाओं के अनुबंध द्वारा रोका जाता है। इस नियंत्रण और परिष्कृत परिवर्तन के लिए काम करने वाली प्रक्रिया का नाम ही आध्यात्म है।

—※—

पुरातन और अर्वाचीन अन्तर का कारण

शरीर और प्राण मिलकर जीवन बनता है। इनदोनों में से एक भी विलग हो जाय तो जीवन का अन्त ही समझना चाहिए। गाड़ी के दो पहिये ही मिलकर संतुलन बनाते और उसे गति देते हैं। इनमेंसे एक को भी टूटा फूटा भस्त व्यस्त नहीं होना चाहिए। अन्यथा प्राण को भूत प्रेत की तरह अदृश्य रूप से आकाश में, लोक लोकान्तरों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। शरीर की कोई अन्त्येष्टि न करेगा तो वह स्वयं ही सड़गल जायेगा।

दैनिक अनुभव में शरीर ही आता है। आत्मा को उसी के साथ गुंथा रहना पड़ता है। इसका प्रतिफल यह होता है कि आत्मा अपने आपको शरीर ही समझने लगती है और इसकी आवश्यकताओं से लेकर इच्छाओं तक को पूरा करने के लिए संलग्न रहती है। दूसरा पक्ष चेतना का, आत्मा का रह जाता है। उसके प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रायः ध्यान ही नहीं जाता। फलतः ऐसा कुछ सोचते-करते नहीं बन पड़ता जो आत्मा की समर्थता एवं प्रखरता के निमित्त आवश्यक है। यह पक्ष उपेक्षित बना रहने पर अर्धांग, पक्षाघात पीड़ित जसी स्थिति बन जाती है। जीवन का स्वरूप और चिन्तन कर्तृत्व सभी में उद्देश्य हीनता घुस पड़ती है। जीवन प्रवाह कीट पतंगों जैसा, पशु पक्षियों जैसा बन जाता है। उसमें पेट प्रजनन की ही ललक छाई रहती है। जो कुछ बन पड़ता है, वह शरीर के निमित्त ही काम आता है। भूख, कामुकता की, वासना, तृष्णा, अहंता की पूर्ति कर पाता है। लोभ, मोह और प्रशंसा–अहंता की ललक ही अहर्निशि छाई

रहती है। इन्हीं ललक लिप्साओं को भव बन्धन कहते हैं। इसी से जकड़ा हुआ प्राणी हथकड़ी बेड़ी तौक पहने हुए बन्दी की तरह जेल-खाने की सीमित परिधि में मौत के दिन पूरे करता रहता है। इन परिस्थितियों में संकीर्ण स्वार्थ परता की पूर्ति ही लक्ष्य बन जाता है। समूचा चिन्तन और प्रयास इसी हेतु नियोजित रहता है। ऐसी दशा में आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विचार करते ही नहीं बन पड़ता उपेक्षित की पुकार कौन सुने। जिसे उसकी आवश्यकताओं से वंचित रखा गया हो, उपेक्षित तिरस्कृत किया गया हो, पोषण से वंचित रखा गया हो, वह दुर्बल तो होगा ही। अशक्तता की स्थिति में उसकी वाणी भी क्षीण हो जायेगी। कड़क कर अपनी आवश्यकता बताने और शिकायत सुनाने की स्थिति भी न रहेगी। फलतः आत्मा की सत्ता होते हुए भी उसे जब कुछ कहने, मांगने परामर्श देने तक की स्थिति में न रहने दिया गया हो तो समझना चाहिए कि उसके वर्चस्व का निखरना संभव ही नहीं रहा। शरीर के निमित्त ही अंग अवयवों की ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों की विविध विधि हलचलें होती रहेंगी। ऐसी दशा में यदि जीवन चर्या पर संकीर्ण स्वार्थ परता ही छाई रहे और उसकी पूर्ति के लिए सुविधा, सम्पन्नता बढ़ाने, उसका उचित अनुचित उपभोग करने की, नशेबाजी जैसी खुमारी चढ़ी रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

आत्म विस्मृति ही वह दुर्भाग्य भरी दुर्दशा है, जिसके कारण मनुष्य अपने सुर दुर्लभ जीवन की गरिमा, जिम्मेदारी सम्भावना आदि सभी कुछ भूल जाता है। भूल भुलैयों में भटका हुआ मनुष्य मृग तृष्णा में भटकने वाले हिरन का उदाहरण बनता है। भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह शावक को उसी स्तर पर मिमियाने और घास खाने की कहानी प्रसिद्ध है। उसका उद्धार तब हुआ था जब पानी में परछाई देखने और दूसरे सिंह द्वारा वर्तमान रीति नीति बदल डालने के लिए उसे समझाते हुए सहमत किया गया था। भृंगी कीट की कथा भी इसी से मिलती जुलती है। भृंगी द्वारा पकड़ा हुआ कीड़ा उसका निरन्तर गुंजन सुनकर मोहित हो जाता है। वह तन्मयता इतनी

बढ़ती है कि मन ही नहीं, शरीर भी उसी ढांचे में ढल जाता है। कालान्तर में कीट भृंग ही बन जाता है। यों यह उदाहरण भक्त के भगवान बनने और उसके लिए साधना उपक्रम अपनाने पर भी लागू हो सकता है। पर वस्तुतः वैसा होता नहीं। अपने को शरीर मात्र समझने और उसी की सेवा सुश्रूषा में निरन्तर लगे रहने के कारण आत्मा की स्थिति भी अन्य अंग अवयवों की भांति एक सामान्य घटक जैसी रह जाती है। उसका उपयोग इतना ही रहता है कि उसके बने रहने पर शरीर भी जीवित बना रहे। मन मौजी कर सकने के लिए जिस शक्ति सामर्थ्य की आवश्यकता है उसे उपलब्ध करता रहे।

होना यह चाहिए कि जिस प्रकार शरीर की विभिन्न इच्छा आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है उसी प्रकार जीवन व्यवसाय के वरिष्ठ साझीदार को भी लाभांश में से उसका भाग निकाला और दिया जाय। पर होता यह है कि काम पक्ष ही सब कुछ झपट, निगल लेता है। आत्मा को निराशा और अभाव ग्रस्तता की स्थिति में रहना पड़ता है। ऐसी दशा में उसका दिन-दिन दुर्बल होते जाना स्वाभाविक है। नियंत्रण ढीला पड़ जाने पर काया को पदार्थ सम्पदा के साथ खुलकर खेलने की छूट मिलेगी ही। उच्छृंखलता अपनाकर घृष्टता को परिपक्व करते-करते अराजकता जैसी स्थिति उत्पन्न होगी ही। यही है मनुष्य का पतन पराभव। इसी स्थिति में दुष्टता और भ्रष्टता पनपती है। क्रिया की प्रतिक्रिया होनी अवश्यंभावी है। चिन्तन और चरित्र यदि गये गुजरे स्तर का हो तो उसका प्रतिफल दुःखद, संकट ग्रस्त एवं विनाशकारी होगा ही। उन दुष्परिणामों को कर्ता स्वयं तो भोगता ही है, साथ ही अपने सम्बद्ध परिकर को भी उसी दलदल में घसीट ले जाता है। नाव की तली में छेद हो जाने पर उसमें बैठे सभी यात्री मझधार में डूबते हैं। स्वार्थी, विलासी, कुकर्मी स्वयं तो आत्म प्रताड़ना, लोकभर्त्सना और दैवी दन्ड विधान की आग में जलता ही है, साथ ही अपने परिवार को, सम्बन्धी स्वजनों मित्रों को भी अपने जाल जंजाल

में फंसाकर अपनी ही तरह दुर्गति भुगतने के लिए बाधित करता है। नशेबाजी, की क्रिया प्रतिक्रिया ऐसी ही होती है। बहु प्रजनन में व्यस्त व्यक्ति भी अदूरदर्शिता के कारण अपना, पत्नी व बच्चों का भविष्य बिगाड़ते हैं। बीमार का अपना परिवार भी त्रास पाता रहता है। राज दन्ड की पकड़ में आये हुए व्यक्ति स्वयं तो जेल भुगतते ही हैं, साथ ही परिवार को चिन्ता में, बदनामी में, कर्जदारी में डुबो जाते हैं। आत्मा की उपेक्षा करके उसकी भागीदारी देने में बेईमानी बरतने वाले भी इसी प्रकार के गर्त में गिरते हैं। साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में भी निकृष्टता का सम्वर्धन करते हुए उन्हें भी उसी कुचक्र में फंसाते हैं।

यह है संक्षिप्त विश्लेषण उस वस्तु स्थिति का, जो साधन सम्पन्नता रहते हुए भी व्यक्तित्वों को, प्रतिभाओं को ऊँचा उठने--उठाने के स्थान पर पतनोन्मुख बनाती और उसकी दुखद प्रतिक्रिया में समूचा वातावरण विकृत दुर्गन्धित करती है। इसे आत्मिक दुर्बलता भी कह सकते हैं क्योंकि आदर्शों को अपनाने की, दृष्टिकोण में उत्कृष्टता भरने की, कार्य पद्धति को दूरदर्शी विवेकशीलता के अनुरूप बनाने की महती आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाली सत्प्रवृत्तियाँ आत्मिक क्षेत्र से ही उभरती है। सन्मार्ग पर ले चलने वाला प्रकाश उसी केन्द्र से उपलब्ध होता है। यदि वह समुद्र के बीच में खड़ा हुआ प्रकाश स्तम्भ बुझ जाय तो फिर उस क्षेत्र में चलने वाले जलयान चट्टान से टकराकर दुर्दशाग्रस्त होंगे ही।

विचारशीलों को इस तथ्य के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। क्योंकि इससे प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन का उत्थान-पतन तो जुड़ा हुआ है ही, साथ ही यह भी निश्चित है कि हर व्यक्ति अपना भला बुरा प्रभाव समाज पर छोड़ता है। विशेषतया सुगन्ध की अपेक्षा दुर्गन्ध का विस्तार भी अधिक होता है और प्रभाव भी अधिक पड़ता है। एक नशेवाला, जुआरी, व्यभिचारी, दुर्व्यसनी, कुकर्मी अनेकों संगी साथी बना सकने में सहज सफल होता है। बेल आगे आगे पसरती जाती है, लहरें एक दूसरे को आगे

धकेलती हैं और उनकी हलचल किनारे पर पहुँच कर रुकती है। अनुकरण प्रिय सामान्य जनों में आदर्शवाद का अनुकरण करने की क्षमता हलकी सी होती है पर वे कुप्रचलनों को सहज पकड़ते हैं। दूषित साहित्य का, अवांछनीय फिल्मों, अभिनयों का प्रभाव जितनी तेजी से पशु प्रवृत्तियों को भड़काता है, उतनी तीव्रता सत्साहित्य में नहीं होती। गीता पढ़कर उतने आत्म ज्ञानी नहीं बने जितने कि अश्लील दृश्य अभिनय से प्रभावित होकर कामुक अनाचार अपनाने में प्रवृत्त हुए हैं। एक सन्त व्यक्ति कम ही सज्जन अपने जैसा बना पाते हैं। महामानवों को अपने जैसे साथी, उत्तराधिकारी विनिर्मित करने में ऐड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ता है पर खल मण्डली की बिरादरी बरसाती मेंढ़कों की तरह देखते-देखते तेजी से बढ़ती है। कुकुर मुत्तों की फसल और मक्खी मच्छरों का परिवार भी तेजी से बढ़ता है। पर हाथी की वंश वृद्धि अत्यन्त धीमी गति से होती है।

समाज में छाया हुआ अनाचार, असन्तोष, पतन-पराभव का मात्र एक ही कारण है कि जनसाधारण की आत्म चेतना मूर्छित हो गई और उसका स्थान शरीरगत लिप्सा लालसा ने ले लियाहै। यदि स्थिति को बदलना है तो उलटे को उलट कर सीधा करना होगा। चिन्तन में आदर्शों का समावेश करना होगा और दृष्टिकोण में उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना करनी होगी। व्यवहार में सज्जनता का पुट लाना होगा और स्वार्थ पर अंकुश लगाते हुए पुण्य परमार्थ की प्रवृत्ति जगानी होगी। इसी आधार पर व्यक्तित्वों का उभार और सत्प्रयोजनों को सफल बना सकने वाली प्रतिभा को निखारना संभव बन पड़ेगा। संक्षेप में यही है आत्मिक प्रगति। इसी के साथ मानवी गरिमा जुड़ी हुई है। यही सद्गुण सम्पन्न महामानवों की बिरादरी उत्पन्न करती है। इसी तत्वज्ञान को अपनाकर प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मणों का विशाल समुदाय संकल्प पूर्वक सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन की महती लोक साधना में लगा था। उसी आधार पर सतयुग का स्वर्णिम काल विनिर्मित हुआ था। इन्हीं दिनों यह भारत भूमि देव मानवोंकी जन्मदात्री और स्वर्गादपि गरीयसी

कहलाती रही है। यहाँ के निवासियों ने असाधारण स्तर की सेवा साधना करके जन सम्मान और जन सहयोग अर्जित किया था। जगद्गुरु और चक्रवर्ती के ऊँचे पदों पर उन्हें इसी सेवा साधना के बदले बिठाया गया था।

पुरातन काल की वैयक्तिक और सामाजिक गरिमा का विकास विस्तार मात्र एक ही आधार पर संभव हुआ था कि यहाँ अध्यात्मवाद को मान्यता दी गई थी। आज जितना ध्यान भौतिक विज्ञानके आविष्कारों और उसके द्वारा विनिर्मित उपकरणों के प्रयोगों पर है, पुरातन काल में उतना ही ध्यान चेतना का स्तर ऊँचा उठाने पर भी था। भावनाओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, उमंगों की प्रत्येक लहर में आदर्शों की ऊर्जा भरी रहती थी। फलतः हर किसी का मन ऊँचा सोचता था। हर शरीर आदर्शों को क्रियान्वित करने में तल्लीन रहता था। उस महान परम्परा का परित्याग करके ही हम आज अनेकानेक संकटों एवं उलझनों में फँसे हैं।

आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता

हलवाई की दुकान पर अनेक मिठाइयाँ रखी रहती हैं पर विश्लेषण करने पर उनमें तीन ही वस्तुएँ घुली-मिली दिखाई पड़ती हैं। एक शक्कर, दूसरा दूध, तीसरा अन्न। यह बनाने वाले की कुशलता है कि वह उन्हें उलट-पुलट कर अनेक रूपों में और अनेक स्वादों वाली बना देता है। मिट्टी चाक और डण्डे की सहायता से कुम्हार अनेक प्रकार के बर्तन बनाता रहता है। कागज, कलम, स्याही की सहायता से अनेकों आलेख लिखे जाते रहते हैं। अध्यात्म विज्ञान का समूचा ढाँचा तीन आधारों पर इसी प्रकार खड़ा है जिस प्रकार किसान द्वारा बीज, खाद, पानी की सहायता से भण्डार भर देने वाली फसल उगाई जाती है।

तत्वज्ञान की दार्शनिक विवेचनाओं में ईश्वर, जीव, प्रकृति की विवेचना होती रहती है। मनीषियों में भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग को आत्मिक प्रगति का आधार निरूपित किया जाता है। इन्हीं विभिन्न प्रतिपादन शैलियों का यदि एकीकरण किया जाय तो वे प्रकारान्तर से उन्हीं मूल प्रतिपादनों में समा जाती हैं, जो अध्यात्म के त्रिवर्ग प्रतिपादनों में आधारभूत माने जाते हैं। तत्वज्ञान रूपी समुद्र मन्थन के इस नवनीत को आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के रूप में जाना जाता है। यह मानवी सत्ता के तीन कलेवर हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा इन्हें काया, मानस एवं अन्तःकरण भी कहते हैं। इन तीनों के अभ्युदय हेतु सम्मिलित प्रयत्न एक साथ करने पड़ते हैं। वे मिले-जुले रूप में विकसित होते हैं। ऐसा नहीं होता कि एक ही को पूरा कर लेने पर दूसरे को हाथ में लिया जाय। जीवन निर्वाह के लिए अन्न, जल, वायु की व्यवस्था जुटानी पड़ती है और वह साथ-साथ प्रयुक्त होती रहती है। यह बात आत्मिक प्रगति के त्रिविध आधारों के सम्बन्ध में भी है।

आस्तिकता का अर्थ है–ईश्वर-विश्वास। इसे अन्तराल की गहराई में जमाने के लिए भक्ति-भाव का आश्रय लेना पड़ता है। यह विश्वास मनोकामना पूरी करने या प्रकट होकर दर्शन देने जैसे बचकाने-बाल कौतुक के लिए नहीं, वरन् सत्प्रवृत्तियों के समन्वित समुच्चय की सघन आस्थाओं के रूप में अपना लिए जाने पर सम्पन्न होता है। ईश्वर के प्रति समर्पण, विसर्जन, विलय का तात्पर्य है–उत्कृष्टता के साथ अपने आपको सघन रूप से जोड़ लेना। कठपुतली की तरह अन्तरात्मा रूपी बाजीगर के इशारे पर अपने अन्तरंग और बहिरंग जीवन को ढालना। अपने ज्ञान-कर्म को इसी निमित्त नियोजित किये रहना। ईश्वर व्यक्ति विशेष की तरह शरीरधारी नहीं है जिसे उपहार-मनुहार द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया जा सके और उससे मनमर्जी के क्रिया-कृत्य कराये जा सकें। समस्त ऋषि नियम अनुशासन के परिपालन से ही गतिशील रहकर अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यह अनुशासन ईश्वर ने अपने ऊपर भी स्वेच्छापूर्वक ओढ़ा हुआ है। वह अपनी मनमर्जी से या भक्त की मर्जी से स्वेच्छाचार बरतने लगे तो समझना चाहिए बेबूझ राजा की शासन परिधि अन्धेर नगरी बने बिना न रहेगी। जहाँ सर्वत्र अराजकता ही दृष्टिगोचर होगी।

ईश्वर की सत्ता और महत्ता पर विश्वास करने का अर्थ है–उत्कृष्टता के साथ जुड़ने और सत्परिणामों पर–सद्गति पर–सर्वतोमुखी प्रगति पर विश्वास करना। आदर्शवादिता अपनाने पर इस प्रकार की परिणति सुनिश्चित रहती है। किन्तु कभी-कभी उसकी उपलब्धि में देर-सबेर होती देखी जाती है। ऐसे अवसरों पर ईश्वर-विश्वासी विचलित नहीं होते। धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं और विश्वास बनाये रहते हैं। दिव्य सत्ता के साथ भक्त जितनी सघनता के साथ जुड़ेगा, उसके अनुशासन, अनुबन्धों का जितनी ईमानदारी, गहराई के साथ पालन करेगा, उतना ही उसका कल्याण होगा। आस्तिक न तो याचना करता है और न अपनी पात्रता से अधिक पाने की अपेक्षा ही करता है। उसकी कामना भावना के रूप में विकसित होती है।

भाव संवेदना फलित होती है तो आदर्शों के प्रति आस्थावान बनाती है। तनिक सा दबाव या प्रलोभन आने पर फिसल जाने से रोकती है। पवित्र अन्तःकरण बना लेना ईश्वर के अवतरण के लिए अवरोध समाप्त कर देता है। दुष्प्रवृत्तियों को हटा देने पर उनका स्थान सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय ले लेता है। इस स्थिति के परिपक्व होने पर जो आनन्द आता है, सन्तोष होता है, उल्लास उमंगता है उसे ईश्वर-प्राप्ति कहा जा सकता है।

विराट् ब्रह्म और विशाल परब्रह्म एक ही बात है। सर्वव्यापी परमेश्वर को किसी शरीर विशेष में अवस्थित नहीं देखा जा सकता। वह नियम, शक्ति एवं भाव-चेतना के रूप में कण-कण में समाहित है। परब्रह्म की यथार्थ सत्ता का यही रूप है। किन्तु उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काकभुशुण्डि की तरह सर्वव्यापी के रूप में देखना चाहिए। उस मान्यता के परिपक्व होते ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की श्रद्धा उभरती हैं। सेवा साधना और परमार्थ-परायणता की दिशा में अग्रसर होना पड़ता है। आस्तिकता कोई भावुकता नहीं है। किसी प्रतिमा की अर्चा भर करते रहने से वह प्रयोजन पूरा नहीं होता। भक्ति भावना भक्त जन के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उच्च-स्तरीय परिवर्तन प्रस्तुत करती हैं। यह मनुष्य को देव-स्तर का बना देने वाला काया-कल्प ही भगवत्-भक्ति का यथार्थ स्वरूप है।

अध्यात्म का दूसरा चरण है–आध्यात्मिकता। आध्यात्मिकता का अर्थ है–आत्मावलम्बन। बहिरंग परिस्थितियों का मूलभूत कारण अपनी मनःस्थिति को मानना। आत्मसत्ता की गरिमा, महिमा और क्षमता को अनुभव करना। दूसरों से सम्पर्क रखने, आदान-प्रदान का क्रम चलाते रहने में हर्ज नहीं। पर विश्वास रखना चाहिए कि उत्थान-पतन की परिपूर्ण जिम्मेदारी अपनी ही है। अकेले ही आये थे, अकेले ही जाना है। इस तथ्य के साथ इतना और जोड़ना चाहिए कि एकाकी निश्चय करना और उस संकल्प को पूरा करने के लिए एकाकी ही कटिबद्ध एवं अग्रसर होना

है। उत्कृष्टता का मार्ग ही ऐसा है, जिस पर चलने के लिए प्रोत्साहन देने वाले, मार्ग दिखाने और सहयोग देने वाले प्रायः दूसरे लोग नहीं ही मिलते हैं। लोकमानस संकीर्ण स्वार्थपरता से भरा है। लोगों की मान्यता, विचारणा और क्रिया-प्रतिक्रिया अधोगामी प्रवाह में ही बहती रहती है। उसका परामर्श मानने, अनुकरण करने पर तो व्यामोह के जाल-जंजाल में ही जकड़े रहा जा सकता है। पक्षी अपने पंखों के सहारे आसमान में उड़ते हैं। उन्हें न कोई मार्गदर्शन देता है और न सहयोग देता है। शालीनता, सज्जनता, उदारता और पुण्य परमार्थ का मार्ग भी ऐसा है जिस पर किसी प्रशिक्षक या सहयोगी की आशा नहीं रखनी चाहिए। इनमें अपना विवेक, अपना सयम, अपना संकल्प एवं अपना साहस ही काम देता है। प्रामाणिकता और शालीनता की कसौटी पर कस लेने के उपरान्त ही अन्य लोग आदर करते, समर्थन करते और सहयोग देते देखे गये हैं अन्यथा गिरते को अधिक जोर का धक्का देकर गहरे गर्त में गिराने वाले तथाकथित मित्रों की ही सर्वत्र भरमार पाई जाती है। गुरुत्वाकर्षण की तरह पतन का प्रभाव एवं वातावरण ही सब ओर छाया रहता है। इस दबाव से उभरना और अन्तरात्मा की उत्कृष्ट प्रेरणाओं का अनुगमन कर सकना अपने बलबूते ही बन पड़ता है। गीता के परामर्शानुसार अपना उद्धार आप ही करना पड़ता है। अवसाद से अपने को बचा लेने के लिए प्रचण्ड साहस का परिचय स्वयं ही देना पड़ता है। मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र है। जिसने आत्मावलम्बन अपनाया और अपने पैरों के बलबूते अपने मार्ग पर एकाकी चल पड़ा, वही मंजिल तक पहुँचता है। रास्ते में चलने वाले तो हर मार्ग पर मिल जाते हैं। जब पतन मार्ग पर अनेकों साथी मिल जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि ऊँचा उठाने और आगे बढ़ने के प्रयास में कोई साथ न दे। संसार में बहुत कुछ है पर उसे खींच बुलाने और हजम करने के लिए तो अपनी निज की चुम्बकीय क्षमता ही काम देती है। आँख न हो तो संसार के समस्त दृश्य समाप्त, कान न हों तो संसार-भर के शब्दों का अन्त,

अपना मस्तिष्क काम न दे तो समस्त संसार पागल। अपना दृष्टिकोण रंगीन चश्मे की तरह किसी सनक में सना हुआ हो तो हर वस्तु उसी रंग में रंगी हुई दिखाई देगी। इसलिए आत्म निरीक्षण, आत्म सुधार, आत्म निर्माण और आत्म विकास की प्रक्रिया अपनाते हुए साधक को आत्मावलम्बन अपनाना चाहिए। एकाकी चल सकने का साहस जुटाना चाहिए। यही आध्यात्मिकता है, जिसे विज्ञान का दूसरा चरण जाना—माना जाता है।

तीसरा चरण है–धार्मिकता। धार्मिकता का अर्थ है कर्तव्य-परायणता। नीति-निष्ठा और उदार-सेवा साधना के इर्द-गिर्द ही धर्म की धुरी घूमती है। उसके अविच्छिन्न अङ्ग हैं–आत्म संयम और परमार्थ के निमित्त बढ़े-चढ़े संकल्प साहस का प्रदर्शन।

उच्छृङ्खलता पशु प्रवृत्ति की परिचायक है। स्वेच्छाचार कीट-पतंगों को ही शोभा देता है। अपराध–अनाचारों में संलग्न रहने वाले शैतान की औलाद कहे जाते हैं। मनुष्य का स्तर इससे ऊँचा है। उसकी गरिमा नीति-निष्ठा और शालीनता पर टिकी हुई है। इसको कर्तव्य-परायणता भी कहते हैं। जिम्मेदारियों का निर्वाह भी।

मनुष्य यों प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र है। उसे लगाम, नकेल, अंकुश, चाबुक के सहारे रास्ते पर चलने के लिए बाधित नहीं किया जाता और न वह कैदियों की तरह हथकड़ी बेड़ी पहनाकर जेल की चहार दीवारी में घेर-बटोरकर रखा जाता है। यह आत्मानुशासन ही है, जो अपनी बहुमुखी जिम्मेदारियों का पालन करते हुए असुविधाओं का सामना करने के लिए तत्पर रहने की प्रेरणा भरता है। शरीर को स्वस्थ रखना, मन को सन्तुलित बनाना, उसे मनोविकारों से बचाना, अर्थ उपार्जन में ईमानदारी बरतना, मिल-बाँटकर खाना, हँसते-हँसाते जीना, गिरतों को उठाना, उठों को बढ़ाना जैसे अनेक दायित्व निजी जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र की अनेकानेक जिम्मेदारियाँ हैं। विशेषतया सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन और दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन–इन दोनों प्रयासों को हाथ में लेने पर

नीर-क्षीर, विवेक और अनीति के साथ लड़ पड़ने की साहसिकता अपनानी पड़ती है। टूटे को बनाने और रूठे को मनाने में असाधारण कौशल का परिचय देना पड़ता है। सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में भी मनुष्य को बहुत कुछ ऐसा करना पड़ता है जिसे रचनात्मक सुधारात्मक कहा जा सके। उसके लिए अपने व्यक्तित्व को प्रामाणिकता एवं प्रखरता से सुसज्जित करना पड़ता है।

कर्तव्य पालन की महत्ता बताते हुए उसे प्रकारान्तर से ईश्वर-पूजा का ही एक स्वरूप बताया गया है। कर्मयोग का गीता में विस्तृत विवेचन हुआ है। इसमें कर्म का अर्थ काम-काज, श्रम-प्रयास नहीं, वरन् पालन है। कर्मयोग का वास्तविक स्वरूप कर्तव्य-योग समझा जाना चाहिए। जिसने अपने आपको आदर्शों के अनुशासन में बांध लिया, वही सच्चे अर्थों में कर्मयोगी है। उसी को धर्मात्मा भी कहते हैं। धर्म और कर्तव्य पालन एक ही तथ्य की द्विधा व्याख्या—विवेचना करता है।

धर्म धारणा को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए साम्प्रदायिक प्रचलनों की समय-समय पर प्रतिष्ठापना होती रही है। उनके अन्तर्गत कई प्रकार की प्रथा परम्परायें, मान्यतायें पूजा पद्धति आती हैं। वे सभी क्षेत्रीय और सामयिक होती हैं। परिस्थितियाँ बदलने पर उनमें सुधार परिवर्तन भी करना पड़ता है। भिन्नताओं को सहिष्णुतापूर्वक किसी प्रकार उस अनुबन्ध में बाँधे रखना पड़ता है जिससे टकराने की स्थिति उत्पन्न न होने पाये। साम्प्रदायिक प्रचलनों में से नीर-क्षीर विवेक के अनुरूप जो विवेक और न्याय द्वारा अनुमोदित लगे उसे अपनाया और शेष विस्तार को अनदेखा भी किया जा सकता है। पर धर्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। धर्म विशुद्ध रूप से मानवी गरिमा के सभी पक्षों को उत्कृष्ट बनाये रखने वाला कर्तव्य अनुबंध है। जबकि सम्प्रदाय विशेष वर्ग और विशेष क्षेत्र द्वारा अनुमोदित अभ्यस्त भर होता है; इसलिए धर्म भावना को सार्वभौम माना जाता है और उसका विवेचन अध्यात्म के तीसरे चरण के रूप में होता है। ❀

चेतना का उदात्तीकरण

आदिम काल में मनुष्य बन्दरों, वन मानुषों की तरह रहता था। और शारीरिक श्रम के आधार पर ही निर्वाह के साधन जुटाता था। तब उसके पास सम्पदा के नाम पर मिट्टी के बर्तन और पत्थरों के उपकरण भर थे। लम्बे पत्तों से काया को ढंकता और ऋतु प्रभाव से अपने को बचाता था। निवास के लिए पेड़ों के झुरमुट और पहाड़ों के गुफा खन्दक ही उसका आश्रय थे। यह स्थिति चिरकाल तक चली और शरीर रक्षा ही प्रमुख समस्या रही। उसका स्तर आज के वनमानुषों से बढ़ा-चढ़ा न था।

कालान्तर में इच्छा शक्ति उभरी, प्रगति की कामना जगी तो बुद्धि के कल पुर्जे अधिक सक्रिय हो गए। अग्नि जलाना, पहिए बनाना, कृषि करना पशुपालन, आवास खड़े करना, आच्छादन वस्त्र बनाना जैसी जीवनोपयोगी कलाएं सीखीं। भाषा और लिपि का विकास हुआ। आयुध एवं औजार बने। इसी प्रकार क्रमशः भौतिक विज्ञान की प्रगति होती गई। सहकार बढ़ा। कुटुम्ब बने और एक का ज्ञान अनुभव दूसरे को हस्तान्तरित होने लगा। यही प्रक्रिया बढ़ते-बढ़ते आज उस स्थिति तक आ पहुँची है कि मनुष्य विद्युत शक्ति का दैनिक प्रयोजनों में व्यावसायिक उद्देश्यों में भरपूर प्रयोग कर रहा है। प्रकृति के अनेकों रहस्य उसने खोज लिए हैं। अनेकानेक सुविधा साधन जुटा लिए हैं और भविष्य में प्रकृति का अधिष्ठाता, सम्पदा का धन कुबेर, शक्ति का इन्द्र बनने की महत्वाकांक्षा संजोए हुए है। जल थल पर तो उसका अधिकार था ही। अब नभ अन्तरिक्ष पर भी कब्जा जमाना आरम्भ कर दिया है। ससीम मनुष्य यदि विराट ब्रह्माण्ड का अधिपति न बन सके तो इसे विवशता ही कहना चाहिए। अन्यथा उसकी

महत्वाकांक्षा इतनी बड़ी है जिसकी तुलना में यह विराट ब्रह्माण्ड भी छोटा पड़ता है। अद्यावधि हस्तगत हुई उपलब्धियों तथा भावी सम्भावनाओं की विभूतियाँ क्यों कर हाथ लगीं ? इसका उत्तर देते हुए यही कहना होता है कि यह विज्ञान का चमत्कार है। यदि इस दिशा में प्रगति न हुई होती तो यह किसी भी प्रकार संभव न था कि वनमानुषों की बिरादरी आगे बढ़कर सृष्टि का मुकुट मणि बनने की स्थिति तक जा पहुँचे, आगे बढ़ सके सम्पदा, सुविधा और साधनों के अम्बार उसके सामने खड़े हो गये।

भौतिक विज्ञान की जितनी प्रशंसा की जाय, जितनी महिमा बखानी जाय, उतनी ही कम है। पदार्थ प्रकृतितः अनगढ़ और अस्त-व्यस्त था। उसे सुनियोजित मानवी बुद्धि, श्रम शीलता और कुशलता ने ही संभव किया है। विज्ञान पदार्थों के अनुकूलन की विद्या सिखाता है। इसके लिए गतिशील रहा गया तो भविष्य में इस प्रत्यक्ष प्रगति के और भी अधिक आधार हाथ लगेंगे। इतने पर भी यह सब रहेगा एक पक्षीय ही। उससे सुविधा साधनों के अतिरिक्त और कुछ मिलने वाला नहीं है। शरीर पंच तत्वों का, पदार्थों का बना है। उसे सुविधा प्रदान करने तक ही पदार्थ विज्ञान की सीमा नियत निर्धारित है।

इतने पर भी यह सब अपूर्ण अधूरा है। क्योंकि मानवी सत्ता का एक पक्ष चेतना भी है। चेतना जहाँ अपने प्रभाव से शरीर को जीवित सक्रिय रखती है। वहाँ वह नीति निष्ठा, भाव सम्वेदना, धर्म धारणा, आदर्श वादिता से भी भरी पूरी है। मानवी गरिमा उसी की सुसंस्कारिता पर निर्भर है। उसी के संकल्प से संयम बरतते बन पड़ता है। मर्यादा पालन एवं वर्जनाओं का अनुशासन भी उसी की प्रेरणा से निभता है। चरित्र निष्ठा एव समाज साधना का निर्वाह उसी के संकेतों पर अवलम्बित है। गुण, कर्म स्वभाव की उत्कृष्टता जिस अन्तःकरण के सम्वेदन शील होने पर निर्भर है, उसे परिष्कृत चेतना के साथ सघन रूप से जुड़ा हुआ समझा जा सकता है। मानव जीवन का विचार पक्ष उसी पर अवलम्बित है। उच्चस्तरीय प्रगति

उसी पर निर्भर है। महापुरुषों जैसी महानता उसी क्षेत्र से उद्भूत होती है। व्यक्तित्व का निखार, प्रतिभा का उभार इसी उद्गम से होता है। दृश्य शरीर की तुलना में चेतना का अदृश्य पक्ष सहस्रों गुना अधिक श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ है।

चेतना यों रहती तो सभी जीवधारियों में है। उसी की उपस्थिति तक जीवन रहता है। उसके विलग होते ही मरण निश्चित है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि प्रखर परिष्कृत होने पर अन्तःकरण की भाव सम्वेदना, मस्तिष्क की दूरदर्शी विवेक शीलता और शरीर की तन्मय-तत्परता का विकास इसी चेतना के विकसित होने पर अवलम्बित है। चेतना का उत्कर्ष ही नर पशु को महामानव बनाता है।

इस ब्रह्माण्ड की संरचना दो भागों में बँटी हुई है। एक जड़ दूसरा चेतन। एक प्रकृति, दूसरा पुरुष। पदार्थ जड़ तो है, पर निष्क्रिय नहीं। क्षुद्र परमाणुओं से लेकर विशाल ब्रह्माण्ड के हर छोटे बड़े घटक सर्वदा गतिशील रहते हैं। पदार्थ मूलतः अनगढ़ है। मिट्टी, पत्थर खनिज, वनस्पति आदि जहाँ तहाँ जिस-तिस स्थिति में पाए जाते हैं। उन्हें अनुकूल एवं सुन्दर-सुव्यवस्थित मानवी चेतना द्वारा विनिर्मित किया जाता है। चेतना लुहार है, पदार्थ लोहा। दोनों के समन्वय से औजार उपकरण बनते है। पदार्थ से चेतना का महत्व अधिक है। बहुमूल्य वायुयान, जलयान, रेल, रेडियो आदि मनुष्य द्वारा ही सोचे बनाए गए हैं और वही उन्हें संचालित भी करता है। बिना संचालक के स्वयंचालित मशीनें भी नहीं चल सकतीं और न कम्प्यूटर, रोबोट ही काम कर सकते हैं। प्रकृति को भी सचेतन परब्रह्म ने ही बनाया है। अस्तु यह तथ्य स्पष्ट है कि जड़ से चेतन का मूल्य महत्व असंख्य गुना होना चाहिए। जड़ पदार्थों के सहारे जब अनेकानेक सुख साधन विनिर्मित हो सकते हैं, तो चेतना की बुद्धिमत्ता एवं भाव सम्वेदना कितना अधिक श्रेय साधन प्रदान कर सकती है, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

भौतिक विज्ञान पदार्थों के अनुकूलन पर आधारित है। उसमें वस्तुओं को इच्छानुरूप स्थिति में बनाने की क्रिया प्रक्रिया सीखी सिखाई जाती है। दूसरा समानान्तर विज्ञान है चेतना का, उसके परिशोधन उन्नयन की प्रक्रिया का। इसे अध्यात्म कहते हैं। इसका प्रथम चरण है चिन्तन। विचार पद्धति का सुसन्तुलन सर्व विदित है कि क्रिया कलापों के मूल में विचारणा ही काम करती है। विचार प्रवाह यदि अनुपयुक्त दिशा में बह रहा है तो उसके सूत्र संचालन पर निर्भर क्रिया कलाप भी हेय स्तर के ही बन पड़ेंगे। हेय कृत्यों था प्रतिफल दुःखद, संकटापन्न एवं अपयश, विरोध, विग्रह के रूप में ही सामने आना चाहिए। उस कुचक्र में फंसे मनुष्य खिन्न विपन्न ही देखे जाते हैं। उनके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोग भी पतन के गर्त में गिरते और त्रास सहते हैं। इसके प्रतिकूल जिनके विचार उत्कृष्ट स्तर के हैं उनका कर्तृत्व यशस्वी होया है और अनुकरणीय अभिनन्दनीय बनता है।

चिन्तव के उपरान्त चरित्र आता है। विचारणा में,दृष्टिकोण में यदि महानता का समावेश हो तो उसकी प्रतिक्रिया सज्जनता शालीनता के रूप में परिणित होनी चाहिए आचारवान लोग नीति नियमों को मानते हैं। मर्यादाओं में बँधे रहते हैं और वर्जनाओं का उल्लंघन नहीं करते। चरित्र में गुण, कर्म, स्वभाव के सभी पक्ष आते हैं। निज की विनम्रता, संयमशीलता और दूसरों को सम्मान प्रदान करते रहने, मधुरता का पुट लगाते रहने, प्रसन्नता प्रफुल्लता व्यक्त करने वाली हल्की मुस्कराहट चेहरे पर बनाये रहने पर व्यक्तित्व का स्तर प्रकट होता है। इस चुम्बकत्व से जन साधारण का सहयोग सद्भाव खिचता चला आता है। वैसे चरित्र निष्ठा के आवश्यक अंग समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के रूप में जाने जाते हैं।

तीसरा पक्ष व्यवहार का है। जैसा सोचा जाता है वैसा ही व्यक्तित्व बनता है, चरित्र ढलता है। चरित्रवान व्यक्ति अपनी गरिमा के अनुरूप लोकोपयोगी कामों में हाथ डालता है, उदार परमार्थ परायणता का परिचय

देता है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के रूप में दूसरों से यथोचित व्यवहार बन पड़ता है। योजना ऐसा कुछ कर गुजरने की रहती है जिसका प्रभाव ग्रहण करने वाले हर किसी को ऊँचा उठने, आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले।

आत्मीयता की स्नेह सम्वेदनाओं से भरा पूरा उदार सेवा सहयोग सम्मिश्रित सद्व्यवहार हर किसी से नहीं बन पड़ता। ओछे व्यक्ति तो अहंकार भरी अशिष्ट उजड्डता ही बरतते देखे गए हैं। सज्जनता चरित्र निष्ठा का ही एक अंग है। नीतिवान मानवी गरिमा का, मनुष्य जन्म का मूल्य महत्व समझते हैं। अस्तु! अपना व्यक्तित्व ऐसा बनाए रहते हैं जिससे अन्तरात्मा प्रफुल्लता प्रसन्नता अनुभव करे और सम्पर्क क्षेत्र के लोग सहायता करते रहें। किसी को किसी भी कारण उँगली उठाने का अवसर न मिले। शत्रु भी लोहा माने और उसका मूल्यांकन अजात शत्रु के रूप में करे। चरित्र वस्तुतः चिंतन का ही परिणाम है चिन्तन बीज है। उसमें चरित्र और व्यवहार का खाद पानी लगाने से जीवन कल्प वृक्ष जैसा फलता है,चन्दन जैसा महकता है। चिन्तन आमतौर से अचिन्त्य चिन्तन की रंगीली उड़ाने उड़ता और आवारा गर्दी में भटकता देखा गया है। पर जब उसे आदर्शवादिता का अवलम्बन मिलता है तो सही मार्ग पर चलने लगता है। उच्छृंखलता अवरुद्ध होती है और निर्धारित उद्देश्यों के लिए एकनिष्ठ तन्मयता अपनाता है। ऐसों की एक भी विचार तरंग अनगढ़ नहीं होती। न उनमें भटकाव देखा जाता है, न असंयमी स्वच्छन्दता का दौर उभरता है। विचारों का मूल उद्गम अन्तःकरण है। आस्थाएँ, भावनाएँ,कामनाएँ जिस अन्तःकरण में उत्कृष्ट स्तर की होती हैं,वहाँ विचार तरंगों का उत्पादन भी आदर्शवादी अभिव्यंजनाओं से आपूरित रहता है। अन्तःकरण ही है जिसमें संस्कार जड़ जमाए रहते हैं। जहाँ कुसंस्कारों का उन्मूलन करके सुसंस्कारों को आरोपित कर लिया जाता है, वहाँ चिन्तन, चरित्र और व्यवहार के सभी स्तर आदर्शों से भरे पूरे रहते हैं।

चेतना का उदात्ती करण जीवन के अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्र का

परिशोधन परिष्कार करने की प्रक्रिया जारी रखने पर सहज संभव है। इसके लिए आत्म निरीक्षण, आत्मसुधार, आत्म निर्माण और आत्म विकास के चार कदम उठाने पड़ते हैं। एकान्त में बैठकर एकाग्र मन से अपने गुण-कर्म स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीयताओं को समझने, पहचाने, का प्रयत्न करना चाहिए। जो अनुपयुक्तता समझ में आए, उसे कूड़े कचरे की तरह बुहार फेंकने का साहस भरा प्रयत्न करना चाहिए। प्रबल इच्छा शक्ति के सामने कोई दुष्प्रवृत्ति टिक नहीं सकती। यह परिशोधन हुआ। यह आवश्यकता है, किन्तु पर्याप्त नहीं। दुष्प्रवृत्तियों के हटाने पर जो स्थान खाली हुआ है, उसे रिक्त नहीं रहने देना चाहिए। वरन् उसमें सत्प्रवृत्तियों का आरोपण करना चाहिए। उन्हें स्वभाव का अंग बनाने के लिए,अभ्यास में उतारने के लिए तदनुरूप अनुकरण करने की क्रमबद्ध योजना बनानी चाहिए और उसे कार्यान्वित करते रहने के निश्चय पर आरूढ़ रहना चाहिए।

"आत्म विकास" का अर्थ है अपने 'स्व' का दायरा बढ़ाना। जिसे शरीर परिवार में कामना संजो रखी है उसे सुविस्तृत करते हुए "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की "वसुधैव कुटुम्बकम्" की मान्यता अपनानी चाहिए। इसका तात्पर्य है स्वार्थ को परमार्थ में विकसित करना। विराट् ब्रह्म का विशाल विश्व के रूप में दर्शन करना। लोक सेवा का व्रत लेना और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में जुट जाना।

इस स्थिति तक पहुँचने के लिए अध्यात्मवादी तत्वदर्शन के अनुरूप अपने श्रद्धा विश्वास को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाला जाना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, सेवा और साधना के चारों आधार जीवन चर्या के अविच्छिन्न अंग बनाए जाने चाहिए। चिन्तन और मनन की प्रक्रिया में अधिकाधिक समय लगाना चाहिए। चिन्तन का प्रयोजन होना चाहिए- "परिशोधन" और मनन का उद्देश्य रहे—"भावी गतिविधियों को सत्प्रवृत्तियों में सुनियोजित करने की उमंग भरी विचारणा।"

—*—

विधान अवलम्बन से पूर्व
आत्म-शोधन

भौतिक विज्ञान-प्रकृति क्षेत्र में बिखरे पड़े अनगढ़ पदार्थ को उपयोगी उपकरण बनाने के लिए अपनी प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी करता है। एक, उसकी कुरूप मलीनता का परिशोधन करके काम में आ सकने योग्य स्थिति तक पहुँचाना। दूसरा, उसे ऐसी स्थिति में लाना जिसमें उसे कोई अच्छी शक्ल देना सम्भव हो सके। तीसरा, उसे महत्वपूर्ण यन्त्र उपकरणों की शक्ल में ढालना। तीनों चरणों में से गुजरने पर ही विज्ञान की हर चेष्टा को सफलता के स्तर तक पहुँचाया जा सकता है।

लोहा खदान में से निकलता है, तब उसमें मिट्टी मिली होती है। लोहकण भी अस्त-व्यस्त जंग खाये जैसे होते हैं। उस कच्चे माल को भट्टी में तपाया जाता है, ताकि अनावश्यक मिलावट जल जाय और शुद्ध लोहा हाथ लगे। यह एक चरण हुआ। शुद्ध लोहे को किसी मशीन के रूप में ढालना होता है तो उसे फिर भट्टी में डालकर नरम बनाया जाता है। यह दूसरा चरण हुआ। तीसरे कदम में उसे साँचे में ढाला और खराद पर घिसकर उसे पूर्णता प्रदान की जाती है। इस तीसरे चरण के पूरे होने पर एक प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

कुम्हार भी यही करता है। मिट्टी के ढेलों को तोड़ता, गूँथता है। जब मिट्टी लोच पर आ जाती है, फिर उसे चाक पर घुमाकर इच्छित बर्तन बनाता है। चिकित्सक वैद्य भी यही करते हैं। मूल द्रव्य को शोधते

है। कूटते-पीसते हैं, फिर उसे गोली, कैप्सूल, अवलेह-सीरप आदि की शक्ल देते है। रस भस्में भी इसी प्रकार बनती है। भौतिक विज्ञान की यही कार्य पद्धति है। इसी को कार्यान्वित करते हुए वह उपेक्षित सामग्री को इस स्थिति तक पहुँचाता है कि उसे अति उपयोगी एवं बहुमूल्य आंका जा सके।

यह सब करने से पूर्व प्रयोग में आ सकने योग्य सिद्धान्तों का आविष्कार निर्धारण करना पड़ता है। यदि उसकी बौद्धिक व्याख्या सही न हो तो कार्यान्वियन की मेहनत और लागत बेकार जायेगी। असफलता हाथ लगेगी।

इतना समझ लेने के उपरान्त हमें तुलनात्मक दृष्टि से असंख्य गुनी क्षमताओं सम्भावनाओं से भरे-पूरे चेतना विज्ञान की दार्शनिक एवं क्रिया परक शैली का निरीक्षण परीक्षण करना चाहिए। यह तथ्य सर्वमान्य होना चाहिए कि पदार्थ को जिस प्रकार कुछ से कुछ बनाया जा सकता है, शरीर में अनेकों प्रसुप्त क्षमताएँ विकसित की जा सकती हैं, उसी प्रकार चेतना का भी परिष्कार एवं उन्नयन हो सकता है। परिष्कृत वस्तु का स्तर एवं मूल्य स्वभावतः अधिक होना चाहिए। कोयला अमुक तापमान तक पहुँच जाने पर हीरा बन जाता है। सस्ते गढ़ापार्चा से अभ्रक भस्म बनती है। बनाने वाले जानते हैं कि इस परिवर्तन की मध्यवर्ती प्रक्रिया कितनी पेंचीदा होती है और उसे पूरा करने के लिए कितनी सतर्कता बरतनी पड़ती है। कितने सहायक उपकरण जुटाने पड़ते हैं। कितने दिनों कितनी मुस्तैदी के साथ खटना पड़ता है। कुम्हार, सुनार, लुहार, मोची दर्जी, रंगरेज, संगरेज, संगीतकार, शिल्पी आदि सभी कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में नये निर्माण करते और दर्शकों को चमत्कृत करते हुए खरीदने वालों को प्रसन्नता प्रदान करने वाली उपलब्धियाँ हस्तगत कराते हैं। यह प्रक्रिया अध्यात्म विज्ञान के अनुशासनोंके कार्यान्वियन में भी अपनानी पड़ती है।

पूर्व इसके कि चेतना क्षेत्र को समुन्नत करने वाले विज्ञान के

कार्यान्वियन की,विधि-विधानों की चर्चाकी जाय। अच्छा होकि उसके मूलभूत सिद्धान्तों को समझ लिया जाय। सिद्धान्तों के आधार पर ही सही दिशा में प्रयास करते बन पड़ता है और वही सफल भी होता है।

चेतना विज्ञान का दूसरा नाम अध्यात्म भी है। उसके दो पक्ष हैं, एक तथ्यात्मक, दार्शनिक सैद्धान्तिक। दूसरा है क्रिया परक विधि विधानों और कर्मकाण्डों का समुच्चय। लोग दूसरे पक्ष से आरम्भ करना चाहते हैं। सिद्धान्तों और आधारों को समझने में रुचि नहीं लेते। फलतः क्रिया-कृत्यों का स्वरूप शुरू में ही अस्त व्यस्त हो जाता है। उनका प्रतिफल कटी पतंग जैसा अनिश्चित ही रहता है। सिद्धान्तों की डोरी जब तक कर्मकाण्डों के साथ जुड़ी रहती है, तभी तक वह आकाश में छटा दिखाने वाली पतंग जैसी आकर्षक स्थिति में रहती है।

चेतना का अथाह और असीम समुद्र इस समूचे ब्रह्माण्ड में लहलहा रहा है। उसी में जल जन्तुओं की तरह हम सब रहते हैं। मछली अपना आहार जलाशय से ही प्राप्त करती है। जीव सत्ता के लिये यह संभव है कि वह ब्रह्म सत्ता के साथ जुड़े और उसमें से पोषक तत्व प्राप्त करती रहे उस उपलब्धि के आधार पर ही व्यक्ति अपने को अधिकाधिक समर्थ बनाता चला जाता है और महात्मा, देवात्मा के रूप में अपनी स्थिति सिद्ध पुरुषों महामानवों जैसी विनिर्मित करता है।

ब्रह्म परायण होने के लिए प्रथम आधार के रूप में अपनी पात्रता विकसित करनी पड़ती है। कुछ महत्वपूर्ण प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने के लिए तदनुरूप आधार खड़े करने पड़ते हैं। वर्षा में असीम जलराशि बरसती है। पर वह कही टिकती उतनी ही मात्रा में है, जहाँ जितना गहरा गड्ढा होता है। सूर्य की किरणें उन्हीं घरों में प्रवेश करती है, जिनकी खिड़की दरवाजे खुले हों। सुन्दर दृश्यों को देख सकने का लाभ उन्हीं को मिलता है जिनकी आंखे सही हों। बहरे लोग इर्द-गिर्द के वार्तालाप को, गायन-वादन को कहां सुन पाते हैं। अपना मस्तिष्क ही गड़बड़ा

तो संसार की हर गतिविधियां उल्टी हो रही जान पड़ती हैं। आंखों पर रंगीन चश्मा पहन लेने पर सभी वस्तुएं उसी रंग में रंगी प्रतीत होती हैं। आत्म सत्ता का अन्तराल यदि गई गुजरी स्थिति में पड़ा हो तो लोक व्यवहार भी सही तरह निभ नहीं पड़ता, साथियों से भी मधुर सम्बन्ध रह नहीं पाते। ऐसी दशा में परब्रह्म की ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ घनिष्ठता स्थापित करना और उसके अनुग्रह अनुदान से लाभान्वित हो सकना किस प्रकार बन पड़े? अनुदान प्रदान करने वाल पक्ष न तो दुर्बल है, न सीमित, न कृपण। पर उसे भी देते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि जिसे दिया जा रहा है वह उसका सदुपयोग कर सकेगा या नहीं? जहां 'नहीं' की आशंका होती है वहां दाता के उदार हाथ भी सिकुड़ जाते हैं। उसकी खुली हुई मुट्ठियां बंद हो जाती हैं। वरिष्ठ संस्थानों की तरह ईश्वर भी पात्रता परखता और इसके बाद ही अपने अनुदानों की झड़ी लगाता है।

रेगिस्तानों पर बादल बरसते नहीं। वे उसके ऊपर होकर छांव-मात्र दिखाते हुए अन्यत्र चले जाते हैं। बैंक कर्ज बांटती हैं। लाखों, करोड़ों का उधार देती हैं। पर देने से पूर्व यह जाँच लेती है कि वह किस कार्य के लिए मांगा जारहा है। उसमें लाभ होने और वापिस लौटने की सम्भावना है या नहीं? संदेह होने पर ऋण पाने के लिए दिया गया प्रार्थना पत्र रद्द हो जाता है। कन्या का पिता अपनी सर्व गुण सम्पन्न लड़की के विवाह योग्य होने पर सुयोग्य लड़के की तलाश में भारी दौड़ धूप करता है। जहां आशा की झलक दिखाई देती है वहां बार-बार चक्कर लगाता है। मनुहार करता है। उपहार देने का भी प्रलोभन दिखाता है। सिफारिश करवाता है और जब अभीष्ट संबंध हो जाता है तो प्रसन्नता अनुभव करता है। भार हलका हुआ मानता है। इतने पर भी यदि कोई कुपात्र अयोग्य व्यक्ति उस लड़की को पाने के लिए अपनी ओर से प्रार्थना करे। मनुहार करने, उपहार आदि देने की भी पेशकश करे तो भी कन्यापक्ष उसके कथन

को अस्वीकार ही नहीं करता, इसे धृष्टता बताता और फटकार लगाता है। एक ओर अनुग्रह का आग्रह और दूसरी ओर तिरस्कार भरी फटकार। इन दोनों प्रकार के व्यवहारों में सुयोग्य-अयोग्य का, पात्र-कुपात्र का अन्तर ही प्रधान कारण है। गाय अपने बच्चे को दूध पिलाती है। दूसरी जाति के पशु शावकों को थन तक नहीं फटकने देती। छात्रवृत्ति ऊँचे नम्बर लाने वाले परिश्रमी प्रतिभाशाली छात्रों को ही मिलती है जब कि फेल होने वालों को अगली कक्षा में प्रवेश पाना तक कठिन हो जाता है। अफसरों की भर्ती में चुनाव आयोग के सम्मुख प्रस्तुत होना पड़ता है। योग्यता के आधार पर ही चयन होता है। उसका प्रमाण न दे सकने वाले निराश वापस लौटते हैं।

इन सब तथ्यों को भली प्रकार समझा जाना चाहिए और ब्राह्मी चेतना से व्यष्टि चेतना को कोई महत्वपूर्ण अनुदान मिले ऐसी आस लगाने से पहले अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण करना चाहिए और जीवन के जिस क्षेत्र में जितनी गंदगी हो उसे बुहारकर साफ करना चाहिए। किसी संभ्रान्त अतिथि के घर आने पर घर की, फर्श-फर्नीचर की सफाई करली जाती है। ब्रह्मसत्ता के जीवन क्षेत्र पर अवतरण होने की स्थिति आने से पूर्व अपने आप की सफाई कर लेनी चाहिए। धुले कपड़े पर ही रंग चढ़ता है। जुते खेत में ही बीज उगता है। बढ़िया बन्दूक में भरा गया कारतूस ही सही निशाना बेधता है। लकड़ी की बन्दूक वह काम नहीं कर सकती। भले ही कारतूस कितना ही अच्छा क्यों न हो? उपासना का विधि विधान कारतूस समझा जा सकता है, उसके उपयुक्त प्रतिफल प्रस्तुत कर सकने की संभावना तभी बनती है जब साधक का व्यक्तित्व परिष्कृत स्तर का हो।

अध्यात्म विज्ञान का प्रथम चरण यही हैकि अपनी पात्रता विकसित की जाय। व्यक्तित्व को परिष्कृत, प्रखर एवं समुन्नत स्तर का बनाया जाय यह आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में सफलता की पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना अधिक कुछ पाने-कमाने की व्यवस्था बनती नहीं, भटकावों में भटकना और निराश रहना पड़ता है।

समझा जाता है कि पेड़ पर जो पके फल दृष्टिगोचर होते हैं, वे आसमान से रातों रात टपकते और आ चिपकते हैं। पर वस्तुतः वैसा होता नहीं। जड़ें जमीन से रस खींचती है। वह तने में टहनियों में, होकर ऊपर पहुँचता है और पहले फूल—बाद में फल बनता है। जड़ें खोखली हो चलें और जमीन से रस खींचने में सफलता न मिले तो पेड़ मुरझाता, सूखता चला जायेगा। पत्ते झड़ेंगे, फूलों के, फलों के दर्शन दुर्लभ होंगे। व्यक्ति को आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक क्षेत्र की सफलताएँ भी उसके समुन्नत व्यक्तित्व के आधार पर ही मिलती हैं यह दूसरी बात हैकि सांसारिक क्षेत्र में परिश्रम और कौशल काम करता है तो अध्यात्म क्षेत्र में उसी के समतुल्य सेवा और संयम के समन्वय से व्यक्तित्व के विकास परिष्कार की आवश्यकता पड़ती है।

अध्यात्म क्षेत्र की ऋद्धियों, सिद्धियों विभूतियों की चर्चा प्रायः होती रहती है। उन्हें प्राप्त करने की ललक लालसा भी हर साधक में पायी जाती है। किन्तु यह भुला दिया जाता है कि इसके लिये साधनों-से भी अधिक आवश्यकता आत्म परिष्कार की है। देव पूजन के लिये स्थान उपकरण सभी स्वच्छ, सुसज्जित किये जाते हैं। मैला कुचैला, दुर्गन्धित कुरूप वातावरण देखकर वे आने को तैयार नहीं होते। आते हैं तो वापिस लौट जाते हैं। यह बात दैवी शक्तियों के अवतरण अनुग्रह के संबंध में भी है। उन्हें स्वच्छता और सदुपयोग कर सकने योग्य पात्रता का निरीक्षण परीक्षण करना होता है। इसके उपरान्त ही वह बात बनती है कि दैवी अनुग्रह से लाभान्वित हुआ जाय।

साधना ऐसी, जो प्रत्यक्ष सिद्धि-दात्री हो

प्राथमिक पाठशाला की पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त ऊँची कक्षाओं में प्रवेश मिलता है। हाईस्कूल उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त ही कालेज की पढ़ाई पूरी होती है। स्नातक बन जाने के पश्चात् ही स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ना शुरु किया जाता है। क्रमिक गति से चलते रहने पर ही लम्बी यात्रा पूरी होती है। छलाँग लगाकर ऊँची छत पर नहीं पहुँचा जा सकता व्यावहारिक जीवन में शालीनता, सज्जनता, सुव्यवस्था, संयमशीलता आदि सत्प्रवृत्तियों का प्रतिष्ठापन और सम्वर्धन करने के उपरान्त ही पूजा विधानों के सफल होने की आशा करनी चाहिए। गन्दगी से सना बच्चा यदि माता की गोद में बैठने के लिए मचले तो वह उसकी इच्छा पूरी नहीं करती, प्यारा लगते हुए भी उसके रोने की परवाह नहीं करती। पहला काम करती है उसे धोना, नहलाना, गन्दे कपड़े उतारकर नये स्वच्छ वस्त्र पहनाना। इतना कर चुकने के उपरान्त वह उसे गोद में लेती, दुलार करती, खिलाती और दूध पिलाती है। बच्चों की उतावली सफल नहीं होती, माता की व्यवस्था बुद्धि ही कार्यान्वित होती है।

अध्यात्म क्षेत्र में इनदिनों एक भारी भ्रान्ति फैली हुई है कि पूजा परक कर्मकाण्डों के सहारे जादूगरों जैसे चमत्कारी प्रतिफल मिलने चाहिए। देवता को स्तवन पूजन के मनुहार, उपहार पर फुसलाया जाना चाहिए और उससे अपनी उचित अनुचित मनोकामनाओं को पूरा कराया जाना चाहिए। यह स्थापना अनैतिक है, असंगत भी। यदि इतने सस्ते में मनोकामनाएँ पूरी होने लगें तो सफलता के लिए कोई क्यों तो परिश्रम करेगा और क्यों

पात्रता विकसित करेगा ? फिर सभी उद्योग परायण व्यक्ति मूर्ख समझे जायेंगे और देवता की जेब काटकर उल्लू सीधा करने वाले चतुर । यह मान्यता यदि सही रही होती तो देव पूजा में अधिकांश समय बिताने वाले पंडित पुजारी, साधु बाबाजी अब तक उच्चकोटि की उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने की स्थिति में पहुँच गये होते । जबकि उनमें से अधिकांश सामान्य जनों से भी गई गुजरी स्थिति में देखे जाते हैं । इसी प्रकार तन्त्र-मन्त्र के फेर में पड़े रहने वाले आतुर और भावुक व्यक्ति बड़ी--बड़ी आशा-अभिलाषाएँ सँजोये रहते हैं । समय बीतता जाता है और सफलता के दर्शन नहीं होते, तो फिर वे निराश होने लगते हैं । प्रयास बन्द कर देते है। अध्यात्म अवलम्बन का उलाहना देते हैं । और लगभग नास्तिक स्तर के बन जाते हैं ।

यह दुःखद परिस्थिति इसलिए उत्पन्न होती है कि उनने आत्म विज्ञान का तत्वदर्शन समझने से पूर्व आतुरता वश मात्र कर्मकाण्ड आरम्भ कर दिये और बालू के महल बनाने लगे । जबकि होना यह चाहिए था कि बीज से वृक्ष उत्पन्न होने के सिद्धान्त के साथ जुड़े हुए अन्य तथ्यों को भी समझते और उन पर समुचित ध्यान देते । बीज से वृक्ष बनने की बात सच है । साधना से सिद्धि मिलने की भी । परन्तु आदि और अन्त को अपना लेना एवं बीच का विस्तार उपेक्षित कर देना सही नीति नहीं है । बीज को उर्वर भूमि, खाद और पानी तीनों का सुयोग मिलना चाहिए, वह अंकुरित होगा, बढ़ेगा और फूलेगा-फलेगा । इतना किये बिना बीज से वृक्ष बना देने की जादूगरी कोई बाजीगर ही कर सकता है उसी का काम है हथेली पर सरसों जमाना । किसान वैसा नहीं करते । जादूगर रुपये बरसाकर दर्शकों को चकित कर सकते हैं पर व्यवसायी जानता हैं कि यदि ऐसा सम्भव रहा होता तो यह बाजीगर करोड़पति हो गये होते और किसी को परिश्रम करके व्यवसाय संलग्न रहने की आवश्यकता न पड़ती । चलने पर ही रास्ता पूरा होता है । उछलकर आसमान नहीं चूमा जा सकता । आत्मिक प्रगति, जिसे कोई चाहे तो देव अनुग्रह भी कह सकता है, जीवन को परिष्कृत करने की

प्राथमिक आवश्यकता को पूरा किये बिना पकड़ में नहीं आ सकती । म्यान न हो तो खरीदी हुई तलवार कहाँ रखी जायेगी ? तिजोरी नहीं हो तो उपार्जित धन राशि को खुली आलमारी में रखकर किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सके ? पाचन तन्त्र यदि समर्थ न हो तो पौष्टिक आहार को पचाने और उस आधार पर बलवृद्धि का सुयोग कैसे बने ? औषधि सेवन के साथ परहेज का भी ध्यान रखना होता है । परहेज बिगाड़ते रहा जाय, तो अच्छी औषधि भी कारगर परिणाम उत्पन्न न कर सकेगी । भले ही चिकित्सक या औषधि पर मनचाहा दोशारोपण करते रहा जाय ।

उपासना-साधना और आराधना का त्रिविधि संयोग है । इसे त्रिवेणी संगम भी कह सकते हैं । उपासना पूजा परक कर्मकाण्डों को, जप--अनुष्ठानों को ध्यान धारणा कहा जाता है । साधना चिन्तन, चरित्र और व्यवहार पर आच्छादित रहने वाली शालीनता को, चरित्र निष्ठा को कहते हैं । आराधना का अर्थ है सेवा साधना, पुण्य परमार्थ । इसके लिए कड़ाई से आत्म संयम बरतना पड़ता है । उस आधार पर की गई बचत को, समय और साधनों को सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए लगाना पड़ता है । गिरों को उठाने और उठतों को उठाने के लिए भी । "सादा जीवन उच्च विचार" का सिद्धान्त यही है । जो सादगी से रह सकेगा, न्यूनतम में निर्वाह सम्पन्न कर सकेगा, उसी के लिए यह सम्भव है कि आदर्शवादिता को चरितार्थ कर सके औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाने पर ही कोई ईमानदार रह सकता है और परमार्थ के लिए आवश्यक भाव सम्वेदना उभार सकता है । उदार सेवा साधना का परिचय दे सकता है ।

उपासना साधना आराधना का जीवनचर्या में समावेश होना आवश्यक है । पेट प्रजनन की, लोभ मोह अहंकार की तृप्ति के लिए तो हर कोई, व्यस्त, उद्विग्न देखा जाता है, पर यह तो भौतिक क्षेत्र की उछलकूद हुई । उसमें शरीर भर को तात्कालिक रसास्वादन करने का अवसर मिलता है । इन उपलब्धियों से तृष्णा और भी अधिक भड़कती रहती है । और अधिका-

धिक की माँग इस प्रकार बढ़ती जाती है कि उसकी पूर्ति संभव ही नहीं होती। व्यक्ति सदा अपने आपको असन्तुष्ट—अभावग्रस्त अनुभव करता है।

आत्मोत्कर्ष की साधना के लिए शान्तचित्त रहना आवश्यक है। यदि अन्तराल में उद्वेग उभरते रहें, उपलब्धियों की आतुरता उफनती रहे तो वह आन्तरिक सन्तुलन समाधान संभव ही न बनेगा, जिसकी पृष्ठभूमि पर अन्तराल की प्रसुप्त शक्तियों को जगाया जा सके। उस जागरण के आधार पर भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कर सकना सम्भव हो सके।

शरीर के द्वारा ही संसार से और उसकी पदार्थ सम्पदा से सम्बन्ध जुड़ता है। अनुभव भले ही न करें, पर चेतना की ऊर्जा भी शरीर को ही प्रभावित करती है। आत्मिक प्रगति के उपादान यथा—जप, ध्यान प्राणायाम आदि शरीर माध्यम से ही बन पड़ते हैं। आत्म सत्ता तक अपने आप को शरीर के नियन्त्रण में चलती अनुभव करती है। इन सब तथ्यों पर ध्यान देने से काय कलेवर की प्रमुखता बनी दीखती है। अस्तु, आवश्यक है कि आत्मोत्कर्ष की साधना भी शरीर माध्यम से आरम्भ की जाय। उसकी चिन्तन पद्धति, चरित्र निष्ठा और पारस्परिक सम्बन्धों में आदर्शवादिता का समावेश किया जाय। प्रत्यक्ष जीवन में आदर्श ही अध्यात्म है। जीवन चर्या के प्रत्येक पक्ष में मानवीय गरिमा से सम्बन्धित सभी अनुबन्धों का सतर्कता पूर्वक पालन किया जाय। इसके लिए परिशोधन और उत्कर्ष की उभय पक्षीय क्रिया प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। अपना स्तर ऐसा बनाया जाय, जो आत्म सन्तोष प्रदान कर सके। कृत-कृत्यता सम्पन्न हुई, अनुभव कर सके। साथ ही दूसरों पर अनुकरणीय उदाहरण की प्रभावी छाप छोड़ सकें। यह निश्चय करने के उपरान्त उसे व्यवहार में उतारने के लिए जुट जाना चाहिए। गलाई और ढलाई की दोहरी क्रिया प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए।

साधनात्मक कर्मकाण्डों से पूर्व यही करणीय है। राजयोग के आठ

उपचारों में यम, नियम को प्रथम स्थान दिया गया है। इसके उपरान्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के अगले चरण उठते हैं। हठयोग में भी नाड़ी शोधन प्रथम है। चिकित्सक वमन विरेचन आदि के द्वारा प्रथम पेट की सफाई करते हैं। इसके बाद उपचार का क्रम चलाते हैं।

स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर परस्पर गुँथे हुए हैं। क्रिया, विचारणा और भाव सम्वेदना का उतार चढ़ाव निरन्तर चलता रहता है। इसलिए अन्न जल हवा की तरह तीनों ही क्षेत्रों को सुसन्तुलित बनाने वाली जीवन चर्या अपनानी पड़ती है। इसमें तीनों ही पक्षों का समाधान करना पड़ता है। कालेज में पहले वाली कक्षाओं में भाषा गणित भूगोल, इतिहास आदि कई विषय साथ-साथ पढ़ने पड़ते हैं। स्नातकोत्तर कक्षाओं में तो एक विषय रह जाता है। जिनने सर्वतोभावेन अपना लक्ष्य आत्म सत्ता का अभ्युदय निश्चित कर लिया है। जो सांसारिक पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो सकते हैं, उनके लिए तपश्चर्या और योग साधना के लिए समूची शक्ति नियोजित कर सकना सम्भव है। अन्यथा सामान्य जनों के लिए यही मध्य मार्गीय प्रयास ही उपयुक्त है, जिनमें संयम और सेवा का भरपूर समन्वय हो। इन दो आधारों को प्रमुखता देने पर अन्य सद्गुण अनायास ही खिचते-उभरते चले आते हैं।

शरीरगत संयम साधना का तात्पर्य है, क्षमताओं को बर्बादी से बचा लेना और संग्रहीत जीवनी शक्ति को किन्हीं महान् प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रखना। संयम साधना से दुर्बलता, रुग्णता एवं अकाल मृत्यु से भी बचा जा सकता है। इस आधार पर साहस और ओजस् विकसित होता है। कुरूप होते हुए भी शालीनता अपनाने वाला भारी भरकम विश्वस्त प्रामाणिक एवं सुन्दर लगता है। इस प्रकार उसे नकद धर्म के रूप में व्यक्तित्व का विकास और प्रतिभा का निखार का लक्ष्य हर दृष्टि से मिलते देखा जा सकता है।

मनः क्षेत्र की कल्पना, विचारणा, मेधा, प्रज्ञा यदि उत्कृष्टता अपनाये

रहे तो उद्वेगों से, तनावों से सहज बचा जा सकता है। साथ ही विचार तन्त्र रचनात्मक दिशा में संलग्न रहने पर ऐसे रहस्य खोजते रहा जा सकता है, जो अपने परिवार के लिए ही नहीं, समस्त संसार के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हो सकें। वैज्ञानिकों के अविष्कार इसी आधार पर प्रकट हुए हैं। मनोविकारों से बचे रहना अपनी दूरदर्शी विवेक शीलता को समुन्नत बनाना है। मनोविकार जीवन के हर क्षेत्र को विकृत करते है। उन्हीं के कारण विपन्नताएं उपजती हैं, समस्याएं उलझती है, चिन्ताएं बढ़ती और दुष्प्रवृत्तियाँ गति पकड़ती है। मन को सन्तुलित करने के लिए सद्विचारों को अपनाने की सहज प्रक्रिया भी काम दे सकती है। व्रतशीलता के सहारे उभरने वाले अनौचित्य का दमन हो सकता है। इसी मनोभूमि पर ज्ञानयोग कर्म योग, भक्ति योग के कल्पवृक्ष उगते एवं परिपक्व होकर विभूतियों का भण्डार भरते हैं। उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाये रहने वाले व्यक्ति ऐसी कार्य पद्धति अपनाते हैं, जिसके सहारे प्रगति प्रसन्नता और सफलता की बहुमुखी उपलब्धियाँ हस्तगत होती रहें।

भाव संवेदना का गंगोत्री-गोमुख अन्तःकरण के गह्वर से प्रकट एवं प्रवाहित होता है। आत्म भाव का जिस पर भी आरोपण होता है,वह परम प्रिय एवं अतीव सुन्दर लगने लगता है। ऐसी दशा में दूसरों का दुख बँटाने अपना सुख बाँट देने की प्रवत्ति सहज हो जाती है। इसी आधार पर आत्म सन्तोष, जन सम्मान एवं दैवी अनुग्रह की असीम वर्षा होती है। इस त्रिधा अमृत निर्झर का जो रसास्वादन कर सका उसे स्वर्ग और मुक्ति का, शान्ति और समाधिका आनन्द निरन्तर मिलता है। ऐसे ही व्यक्ति नर--नारायण और पुरुष-पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

उपासना के तीन महत्वपूर्ण उपक्रम

उपासना के अनेकानेक प्रयोग अभ्यास है। अनेकों योग सिद्धान्त हैं। उनका निर्माण साधकों के निजी अनुभव-अभ्यास के आधार पर हुआ है। उनके पीछे शास्त्रकारों की दूरदर्शी वेधक दृष्टि भी है। योगों की संख्या ८४ बतायी गई है, जिनमें राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, प्राणयोग, लययोग, स्वरयोग, नादयोग आदि प्रमुख हैं। मात्र शरीर से किये जाने वाले आसन, बन्ध, मुद्रा आदि की संख्या भी सुविस्तृत है। इन सभी का एक व्यक्ति द्वारा किया, अपनाया जाना असंभव है। हर किसी को अपनी स्थिति के अनुसार विस्तृत साधना विधानों में से कुछ का चयन करना पड़ता है। खाद्य पदार्थों की संख्या सैकड़ों हजारों में हैं, पर अपनी थाली में रुचिकर और सुन्दर ही वस्तुएं सजायी जाती हैं। कपड़े अनेक फेशनों के संसार भर में सिये जाते हैं, पर अपनी पसंदगी और सुविधा के कुछेक ही होते हैं। इसी प्रकार निर्धारित साधनाओं में से सभी हर किसी के लिए नहीं है, उसे अपनी अंतरंग और बहिरंग परिस्थितियों के साथ तालमल बिठा सकने वाले उपचार ही चुनने पड़ते हैं।

नदियाँ अनेक हैं पर उनमें से गंगा यमुना, सरस्वती का संगम ही तीर्थराज बनता है। इसी प्रकार साधना में तीन को ही प्रमुखता दी गयी है। उन्हें ही सर्वसाधारण के लिए सुगम, साथ ही थोड़े प्रयास में अधिक फल देने वाला माना गया हैं। इनमें छोटी-मोटी भूल रहने पर भी किसी अप्रत्याशित संकट या अनिष्ट की आशंका नहीं है। अनेकानेक साधनाओं का आविर्भाव इन्हीं की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में हुआ भी है।

ऐसी प्रमुख साधना धाराओं में तीन को वरिष्ठता दी गई है एक

जप दूसरा प्राणायाम, तीसरा ध्यान। इनकी श्रेष्ठता भी क्रमशः एक के बाद एक की है। जप सामान्य है। माला भर गिनते रहने और निर्धारित शब्दों की बार-बार पुनरावृत्ति करते रहने से, वातावरण को स्वच्छ समाधान कारक बनाये रहने से जप की प्रक्रिया सहीरूप से चल पड़ती है। शब्द गुंथन मंत्र की विशेष शक्ति है। उसके अक्षरों का कुछ अर्थ भी होता है, पर वह अर्थ ऐसा नहीं है, जो इससे पूर्व जाना न गया हो या उस जानकारी मात्र से कुछ अधिक हित साधन होने वाला हो। शिक्षा प्राप्त करना ही उद्देश्य हो तो उसे स्वाध्याय-सत्संग के आधार पर पूरा किया जा सकता है। मंत्रों में उनका अक्षर गुंथन ही रहस्यमय है। यदि उन्हें प्रयोग करते समय समुचित श्रद्धा-विश्वास का पुट लगाते रहा जाय, तो उसका समुचित प्रतिफल मिलकर ही रहता है।

एक शिष्य ने अपने क्षेत्र में घोषणा की कि वह हर रोग का निवारण कर सकने वाली एक दवा प्राप्त कर चुका है। हजारों आने लगे। शिष्य उनकी जल से भरी कटोरी में अपनी शीशी से निकाल कर एक बूंद डाल देते। पीने वाले प्रायः सभी अच्छे होने लगते।

एक बार उसके गुरु को कोई भयंकर बीमारी हुई। उनने शिष्य की चमत्कारी चिकित्सा विधि के संबंध में सुना। वे उसके पास पहुँचे। शिष्य ने उन्हें भी जलभरी कटोरी में एक बूंद दवा डालकर पिलादी। वे देखते-देखते अच्छे हो गये। बड़े चमत्कृत हुए और यह इच्छा करने लगे कि किसी प्रकार इस दवा का भेद उन्हें भी विदित हो जाय, तो उनकी भी प्रतिष्ठा और सम्पदा बढ़ सकती है। उनने साहस करके शिष्य से औषधि का नुस्खा पूछ ही डाला। उसने नम्रतापूर्वक बता दिया कि हर गुरुपूर्णिमा को आपके दर्शन करने जाता हूँ, तभी आपके पैर धोकर एक बोतल भर लाता हूँ। एक-एक बूंद उसमें से देते रहकर साल भर में हजारों रोगियों का भला कर देता हूँ। आप इस कथन को अन्यथा न समझें। मैंने वास्तविकता ज्यों की त्यों आपके सामने प्रकट कर दी है।

गुरु बड़े उत्साह में थे। उनने भी अपने क्षेत्र में वैसा ही ढिंढोरा पिटवा दिया। लोग आये गुरु जी ने अपने दोनों पैर मलमल कर धोये और उससे एक बड़ा कलश भर लिया। उसी को ज्यों-का-त्यों पिलाने लगे। एक बूंद देने भर की कृपणता भी उनने नहीं अपनायी। इतने पर भी किसी को कोई लाभ नहीं हुआ। सभी रोगी निन्दा करने, अपशब्द कहने और झगड़ने लगे।

ऐसा क्यों हुआ ? उसका समाधान पूछने के लिए गुरु, शिष्य के पास पहुँचे। सारा हाल बताया। शिष्य ने ध्यानपूर्वक सुना और नम्रता पूर्वक कहा—"देव ! मेरे मन में आपके प्रति, आपके चरणोदक के प्रति असीम श्रद्धा है। वह श्रद्धा ही जल में मिलकर चमत्कार दिखाती है। आपने अपने पैर धोते समय अहंकार का समावेश किया,फलतः संजोया गया जल निष्फल हो गया।"

मंत्र शक्ति के संबंध में भी यही बात है। जहाँ उसके जप में नियमोपनियमों का पालन करना चाहिए वहीं निर्धारित साधना के प्रति अटूट श्रद्धा भी होनी चाहिए, लक्ष्य ऊँचा रखना चाहिए, जिससे मनोकामनाओं के पूरे होने-न होने पर कोई अन्तर न आये। जप से उद्भूत हुए अक्षर अपने-अपने सम्बद्ध सूक्ष्म केन्द्रों पर प्रभाव डालते और उत्तेजित करते हैं। इस प्रसुप्ति के जागरण में से अतिरिक्त स्तर की क्षमताएँ जगती हैं, योग्यताएँ उभरती हैं, उपयोगी परिवर्तन की शृंखला बनती हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि हाथ में लिये काम सही दिशाधारा मिलने से सफल होने लगते हैं। प्रतिभा का विस्तार दिन-दिन होने लगताहै। व्यक्तित्व का विकास सफलताओं की गारण्टी है। इसी परिणति को मन्त्र सिद्धि कहते हैं।

दूसरा वर्ग प्राणायाम का है। श्वांस से संकल्प शक्ति के सहारे चुम्बकत्व भरा जाता है और उसके सहारे से वायुमण्डल में भरे हुए प्राण तत्व को खींच निकाला जाता है। इसकी अवधारणा से साहसिकता उभरती है,

आत्मविश्वास बढ़ता है और जीवनी शक्ति का अभिनव संचार होता है। प्राणायाम की अनेकानेक शाखा प्रशाखाएं हैं, पर उनमें से सरलतम प्राणाकर्षण प्राणायाम चुनने से भी काम चल जाता है। सांस खींचते समय प्राण का भण्डारण, छोड़ते समय विकृतियों का निष्कासन भाव भरना—यह है संक्षेप में 'प्राणाकर्षण प्राणायाम।' इसमें सांस लेने छोड़ने का समय अपनी सामर्थ्य के अनुसार बिठाना चाहिए और रोकने का समय आधा रखना चाहिये। तीनों क्रियाओं से मिला हुआ एक समग्र प्राण संचार प्राथायाम माना जाता है। इसे दस मिनट से आरंभ करके आधे घण्टे तक पहुँचाया जा सकता है। स्वच्छ खुली हवा में प्रातःकाल के समय प्राणायाम किया जाय। मेरुदण्ड को सीधा रखा जाय। आँखें अधखुली रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमायी जाय।

उपरोक्त जप, प्राणायाम के दोनों अभ्यास ऐसे हैं, जिनमें शारीरिक क्रिया को सुनिश्चित रखा जाता है साथ ही प्रयत्न यह भी किया जाता है कि मनोयोग का, संकल्प शक्ति का भी उसमें समावेश किया जाय। मन की चंचलता कुख्यात है। वह बन्दर की तरह उचकता और चिड़ियों की तरह फुदकता रहता है। मच्छर की तरह उसे एक स्थान पर बैठना सुहाता ही नहीं। इस उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए आरम्भिक प्रयोग जप और प्राणायाम के रूप में करना पड़ता है। इन दोनों का प्रयोग मन की घेराबन्दी करने और खूँटा पहचानने, अस्तबल में रहने के लिए सहमत करने हेतु किया जाता है। हर घड़ी बे सिर पैर को उड़ानें उड़ने की अपेक्षा किसी सत्प्रयोजन—उच्च उद्देश्य पर जमाने के लिए उसे उपरोक्त बाड़ों की कैद में रहने के लिए विवश करना होता है। यों इस स्थिति को भी वह सहज ही नहीं मानता, स्वीकार नहीं करता और बीच बीच में उछालें लगाता रहता है। रस्सी तुड़ा कर भागने की भरपूर चेष्टा करता रहता है। किन्तु उसे घेर बटोर का सीमाबद्ध रखने के लिए बाधित करने वाला प्रयास चलाते रहना पड़ता है। अभ्यास को निष्ठा पूर्वक

चलाते रहने से हर काम में सफलता मिलकर रहती है। मन को बाँधना असंभव नहीं है। यद्यपि ऊँचे उद्देश्यों के साथ जोड़ सकना कठिन तो है। अधोगामी हरकतों में तो मन सहज सरक जाता है पर ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए वैसा ही आड़ा टेढ़ा प्रयत्न करना पड़ता है, जैसा कि सरकस वाले अपने जानवरों को चित्र विचित्र काम दिखाने के लिए प्रशिक्षित करते हैं। यह एक महत्वपूर्ण व कठिन समयसाध्य कला है। मनुष्य की सचेतन शक्तियाँ यदि उद्देश्य पूर्ण उत्कृष्टता क साथ दृढ़तापूर्वक जुड़ सकें तो समझना चाहिए कि महामानव बनने जैसी संभावना सुनिश्चित हो गई। सफलताओं के अनेकों ताले विकसित व्यक्तित्व की एक ही चाबी से खुलते जाने की संभावना हस्तगत हो गई। वैज्ञानिकों से लेकर कलाकारों, योगियों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक को यह सफलता अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी होती है कि मन को समग्र तन्मयता के साथ अपने निर्धारित लक्ष्य में नियोजित करें, ताकि शरीर को उस अनुशासन के अन्तर्गत अपने क्रिया कलाप तदनुरूप करते रहने के लिए विवश होना पड़े। प्रगति चाहे भौतिक क्षेत्र की हो या आत्मिक क्षेत्र की उसमें समग्र मनोयोग अनिवार्य रूप से नियोजित करना पड़ता है। हो सकता है कि किसी ने मानसिक नियंत्रण अपने सामान्य क्रिया कलापों से, मानसिक संयम से अर्जित कर लिया हो पर यह निश्चित है कि इसके बिना अभ्युदय की दिशा में बढ़ सकना संभव नहीं। जिनका मन डाँवाडोल रहता है, रंगीन कल्पनाओं के आकाश में वे सिर पैर की उड़ानें मारता रहता है, उनका आधे अधूरे मन से किया गया निजी कार्य प्रायः असफल रहता है। किसी भी दिशा में महत्वपूर्ण, यशस्वी उत्कर्ष ऐसे चंचल मति वालों के हाथ नहीं लगता।

जप और प्राणायाम में मन की चंचलता का शमन करके उसे एकाग्रता एकनिष्ठता का अभ्यास कराना पड़ता है। यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। निग्रहीत मन एक दैवी वरदान है। उसे जिस भी काम में लगा दिया जाय अवरोधों को चीरते हुए, सफलता का लक्ष्य प्राप्त करके

रहता है। यों जप की मंत्र शक्ति और प्राणायाम द्वारा संचित प्राण शक्ति अपना विशिष्ट प्रतिफल व्यक्तित्व के विकास और प्रखरता के उभार से अपनी प्रतिक्रिया का परिचय देता है। मनः स्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है। जप और प्राणायाम मनःस्थिति को सत्प्रवृत्तियों से सुसम्पन्न करते हैं। फलतः उसका प्रतिफल अभीष्ट आकांक्षाओं को पूरा करने में दैवी अनुग्रह की वरदान उपलब्धि जैसा प्रतीत होता है। प्राणायाम वाले प्राणवान बनते हैं और जप कर्त्ताओं की श्रद्धा बलवती होती है। श्रद्धा के आरोपण से पत्थर के खिलौने भी मीरा के गिरधर नागर, नरसी के रण छोड़ बनकर चमत्कारी दिव्य दर्शन देने लगते हैं। रामकृष्ण परमहंस की काली एवं एकलव्य के द्रोणाचार्य उनकी भाव श्रद्धा का सघन आरोपण होने से ही चमत्कारी प्रतिफल उत्पन्न कर सकने वाले सिद्ध हुए थे। पाषाण प्रतिमाएँ इसी आधार पर देवत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं।

साधना का तीसरा आधार है 'ध्यान' इसमें शारीरिक अंग अवयवों का योगदान नहीं रहता है। समूचा कार्य चेतना को ही करना पड़ता है। कल्पना प्रायः धुँधली और अस्थिर होती है। उसे स्पष्ट, स्थिर और विश्वस्त बनाया जाना चाहिए तभी ध्यान धारणा बन पड़ती है। इसके लिए कोई इष्ट निर्धारित करना होता है। उसी पर मन जमाना होता है। चित्र या प्रतिमा को सामने रखकर उसके अंग प्रत्यंगों, वस्त्र आभूषणों, आयुधों, वाहनों के सज्जा सजित कलेवर को परिपूर्ण उत्सुकता और भावना के साथ देखते रहा जाया करे तो इस तन्मयता भरे देव दर्शन से भी ध्यान की आरम्भिक भूमिका सम्पन्न होती है। चित्रों और प्रतिमाओं का निर्माण तथा अवलम्बन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। प्रतिफल उसी अनुपात में मिलता है, जितनी गहरी साधना की भाव संवेदना होती है। यदि उपेक्षा पूर्वक अनास्था की मनःस्थिति में उन्हें देखा गया है तो प्रतिफल मात्र छवि दर्शन का लाभ आँखों को एक कौतूहल देखने भर के रूपमें मिलेगा। किन्तु यदि श्रद्धा का गहरा पुट लगा होगा तो जड़ प्रतिमा

भी जाग्रत स्तर में अपना परिचय देने लगेगी।

निराकार ध्यान इससे ऊँचा है, क्योंकि उसकी संरचना किसी दृश्य के अनुरूप अपने को ही करनी पड़ती है। इसका पुरातन इतिहास स्मरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि जिसका भी इतिहास होगा उसमें मनुष्य में पाई जाने वाली त्रुटियों का भी समावेश रहेगा ही। ध्यान से तादात्म्यता आती है। इष्ट के साथ साधक एकीभूत होता है ध्यान से भी आग ईंधन जैसा एकात्म भाव बन जाता है। शर्त एक ही है कि उसके साथ सघन आत्मीयता जुड़ी हुई हो। निराकार ध्यान में भी इतना तो करना ही पड़ता है।

प्रातः काल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य का ध्यान सर्वोत्तम है। दृश्यमान सूर्य अपने आप में ही प्राण पुंज है। फिर ध्यानकर्ता अपनी आस्था का आरोपण करके उसे और भी शक्ति दाता बना देता है। गायत्री का अधिष्ठाता भी समग्र विश्व का निर्माता सविता है और उसे परब्रह्म की साक्षात् प्रतिमा इसी कारण माना गया है।

स्वर्णिम सविता की ध्यान-धारणा

मन की शक्ति अपार है। व्यावहारिक जीवन में प्रायः उसका सात प्रतिशत ही काम में आता है। शेष ९३ प्रतिशत प्रसुप्त स्थिति में ही पड़ा रहता है। जो अवयव काम में नहीं आते वे निष्क्रिय रहने पर जंग खाये चाकू की तरह, पक्षाघात पीड़ितों की तरह निरर्थक हो जाते हैं। अपंग जैसी स्थिति में रहने लगते हैं। मस्तिष्क के सम्बन्ध में भी यही बात है। दैनिक क्रिया-कलापों में जिन घटकों से काम लिया जाता है, उन्हीं में जागृति एवं सक्रियता बनी रहती है। काम न मिलने पर हिम प्रदेश के भालुओं और सर्पों की तरह वे निद्राग्रस्त हो जाते हैं। मनःक्षेत्र के अनेकानेक घटकों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। यदि अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्रों को क्रियाशील रखा जा सका होता तो मनुष्य बौद्धिक दृष्टि से असामान्य स्थिति तक पहुँचा होता। उस विकास का प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ता। प्रगति हर प्रयोजन में परिलक्षित होती। विशेषतया मनःसंस्थान तो इतना समुन्नत होता कि वह इन्द्रियातीत क्षमताओं से सुसम्पन्न होता और दिव्य ज्ञान के आधार पर इतना कुछ कर पाता, जितना सौ बुद्धिमान मिलकर भी नहीं कर सकते।

शरीर और मस्तिष्क अनेकानेक अदृश्य घटकों से मिलकर बने हैं। उनके समूह समुच्चय अपने-अपने क्षेत्र सम्भालते हैं और प्रत्यक्ष अङ्ग अवयवों के रूप में काम करते हैं। यों कहने को तो समस्त घटकों का परिपोषण संचालन कर सकने की क्षमता रक्त द्वारा सम्पन्न होती समझी जाती है, पर वस्तुतः उनकी हलचलें उन ज्ञान-तन्तुओं द्वारा होती हैं जो मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए हैं। मस्तिष्क के सक्रिय केन्द्र इन ज्ञान-तन्तुओं के माध्यम से समस्त शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़े रहते हैं और जानकारियों का आदान-प्रदान करते रहते हैं। रक्त की न्यूनता एवं अशक्तता होने पर अङ्ग अवयव कुपोषण के शिकार होते हैं और रुग्णता तथा अकाल मृत्यु की दिशा में चलने लगते

हैं। जैव ऊर्जा का प्रभाव इससे भी अधिक है। जीवनी शक्ति रक्त में पायी जाती है पर उस पर निर्भर नहीं है। वह स्वतन्त्र है तथा काय-कलेवर से नहीं, चेतना से उद्भूत होती है। चेतना से मनःसंस्थान का जितना क्षेत्र ज्वलन्त होता है उसी अनुपात से शरीर में जीवनी क्षमता, कोमलता, सुन्दरता बनी रहती है। निरोधक शक्ति की बहुलता होने पर रोगों का आक्रमण भी सफल नहीं होता। जीवट वाले व्यक्ति महामारियों में निरन्तर सेवा कार्य करते रहते हैं किन्तु उससे प्रभावित नहीं होते। यह मनोबल की प्रखरता है, जो अंग अवयवों को सुरक्षित रखे रहती और समर्थ बनाये रखती है। बहुमुखी सफलताएँ इसी पर निर्भर करती हैं।

कायिक घटकों को रक्त का पोषण ही नहीं मनोबल की वह विशिष्टता भी चाहिए जिसे "जीवनी शक्ति" कहते हैं। जिस प्रकार पोषण रक्त पर आश्रित है उसी प्रकार प्रतिभा समेत जीवट के अनेक पक्ष मनःसंस्थान से उभरते तथा गतिशील होते हैं। प्रश्न यह है कि प्रचुर परिमाण में जैव ऊर्जा की समुचित मात्रा में उपलब्धि कैसे हो? प्रसुप्त निष्क्रिय कोष्ठकों को जागृत कैसे किया जाय? रहस्यमयी अदृश्य शक्तियों की चमत्कारी विशेषताओं से लाभान्वित कैसे हुआ जाय? उन्हें प्रखर प्रचण्ड कैसे बनाया जाय?

सोये व्यक्ति को झकझोर कर जगाया जाता है। निस्तब्ध पड़े घड़ियाल को घण्टा मारकर झनझनाया जाता है। दबा खजाना खोदने के लिए घन चलाया जाता है। विकृत विक्षिप्त मस्तिष्क को बिजली का झटका दिया जाता है। इसी प्रकार शरीर के किसी अंग अवयव को विशेष रूप से से सक्रिय समर्थ बनाना है तो उसे किसी समर्थ उपकरण के सहारे हिलाया डुलाया, उठका पटका जाता है। ऐसे उपकरण की भूमिका कौन निभाये? कैसे निभे? इसका सुनिश्चित उत्तर एक ही है कि मानसिक ऊर्जा का एक सघन समुच्चय एकत्रित किया जाय और इस योग्य बनाया जाय कि वह तिलमिलाने वाला प्रहार कर सके। इस उपलब्धि को हस्तगत करने का एक ही उपाय है—एकाग्रता और भाव निष्ठा सम्पन्न ध्यान।

आतिशी शीशे पर सूर्य किरणें एकत्रित की जाँय तो उसका केन्द्र बिन्दु देखते देखते अग्नि उगलने लगता है। बन्दूक दागने पर कारतूस की गोली कितनी तीव्र गति से उड़ती और कठोर लक्ष्य को बेधती है, यह सर्व-विदित है।

सूर्य किरणों की भाँति मानसिक शक्तियाँ भी बिखरी रहने के कारण अपना प्रभाव अति स्वल्प मात्रा में ही पृथ्वी पर दिखा पाती हैं। यही बात विचार शक्ति के बारे में भी है। वह अनेक क्षेत्रों की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति में नियोजित रहती हैं। इसे एकत्रित कर लिया जाय तो उसकी समग्र शक्ति असाधारण रूप से शक्तिशाली हो जाती है। भाप के संबंध में भी यही बात है। सामान्यतया पानी गरम होकर हवा में उड़ता रहता है और उसका किसी को पता भी नहीं चलता। किन्तु जब उसे रेल इंजन के पिस्टन के साथ जोड़ दिया जाता है तो बड़ी तादाद में माल के डिब्बों को घसीटती हुई वही भाप कहां से कहाँ ले जा पहुँचती है। प्रेशर कुकर इसी भाप के दबाव से घण्टों में बनने वाला भोजन मिनटों में पका देते हैं। कल्पना शक्ति की क्षमता के संबंध में भी यही समझा जाना चाहिए। उसे बिखेरते रहने वाले लोग अति बुद्धिमान होते हुए भी अस्त व्यस्त रहते हैं और जीवन भर में कोई महत्व पूर्ण कार्य कर नहीं पाते। किन्तु जो एकाग्रता साधने में समर्थ होते हैं, वे वैज्ञानिक, विद्वान, कलाकार, दार्शनिक, कुशल शिल्पी बनकर दिखा देते हैं। हमें एकाग्रता की महत्ता समझनी चाहिए और कछुए–खरगोश की दौड़ वाली कहानी याद रखनी चाहिए जिसमें मंदगति वाला कछुआ नियत लक्ष्य तक पहुँच कर बाजी जीत गया था, जबकि द्रुतगामी खरगोश अपने मन को जहां तहाँ उलझाये रहने के कारण पिछड़ गया था। प्रत्यक्ष जीवन की सफलता का यही आधार है और आत्मिक उत्कर्ष का भी।

विचारों की एकाग्रता साधने का सरल और प्रभावी उपाय ध्यान है। ध्यान में केन्द्रीकरण के लिए कोई छवि निर्धारित करनी पड़ती है।

ऐसी वस्तु जो आकर्षक भी हो और गुणवत्ता से भरपूर भी। सुन्दरी युवतियों की ओर अनायास ही ध्यान खिंच जाता है और उनकी छवि तथा भंगिमा के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगता है। यही बात ध्यान इष्ट के संबंध में है। उस निर्धारण से पूर्व लक्ष्य पर गरिमा, महत्ता एवं चयन का आरोपण करना पड़ता है। यहीं सिद्धान्त सभी देवी देवताओं के संबन्ध में लागू होता है।

सर्व भौम ध्यान के लिए प्रकाश पुंज, प्रभात कालीन स्वर्णिम सूर्य सविता का चयन करना अति उत्तम एवं निर्विवाद है। जिन देवताओं की कथा गाथा होती है उनके इतिहास में कितने ही उत्साह वर्धक तथ्य रहते हैं तो कई खोट भरे भी। ध्यान के कारण वह सभी भलाइयाँ बुराइयाँ साधक पर सवार होती हैं। इसलिए अन्य देवता संदेहास्पद भी हैं। तीखी समालोचना से उनके चरित्र एवं स्वभाव में ऐसी अवांछनीयता भी सन्निहित रहती है जो साधक पर भी श्रेष्ठताओं के साथ साथ हावी होती चली जाती है। इस दृष्टि से सूर्य सर्वथा दोष रहित है। उसमें गुण ही गुण हैं। साथ ही शक्ति का भण्डार एवं आकर्षक, सुन्दरता से भरापूरा भी उसे समझा जा सकता है।

सविता गायत्री का अधिष्ठाता है। उसके द्वारा प्राण शक्ति का उद्भव और वितरण होता है। इसी कारण वह प्राणियों का जन्मदाता माना जाता है। प्रकाश वितरण करने से वह चर्म चक्षुओं को दृश्य देखने और ज्ञान चक्षुओं को दिव्य दृष्टि से भरने का अनुदान प्रदान करता है। उसे निरन्तर निर्बाधगति से विश्व सेवा में निरत देखा जा सकता है। अनुशासन का धनी है। समय साधना की दृष्टि से उसे आदर्श एवं अनुकरणीय माना जा सकता है। तेजस्विता उसकी विशिष्टता है इन सब विभूतियों को ध्यान धारणा द्वारा आकर्षित और अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित किया जा सके तो समझना चाहिए कि साधक की सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुल गया। जिस उद्देश्य के लिये ध्यान किया जाता है उस गन्तव्य तक पहुँचने का राजमार्ग मिल गया।

प्रभात काल के उदीयमान सूर्य में कुछ समय तक स्वर्णिम आभा रहती है। नेत्रों के लिए सदन करने योग्य व सहज भी है। आरंभ में तनिक देर आँखे खोल उसे देखना, फिर तुरन्त पलक बन्द कर लेना चाहिए। सूर्य के अभाव में दीपक की लौ देखने से भी काम चल सकता है। दोनों ही त्राटक साधना के अन्तर्गत आते हैं। खुले नेत्रों से प्रकाश को देखने की अवधि न्यूनतम होनी चाहिए। एक झलक झांकी भर। इसके उपरान्त पलक बन्द कर लेना चाहिए और उस प्रकाश पुंज की मानसिक अवधारणा करनी चाहिए। कुछ दिन के अभ्यास से सूर्य को या दीपक को देखने की खुले नेत्रों से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह ध्यान स्वाभाविक हो जाता है और अनायास ही होता रहता है। उस समय सविता मंत्र का भी स्वचालित जप होता रहता है। प्राणयोग की सोहम् साधना में श्वास प्रश्वास के साथ निरन्तर चलते रहने की आदत स्वभाव का अंग बन जाती है।

प्रकाश पर संयम किया गया विचारों का एकत्रीकरण दोनों उपचारों के कारण एक विशेष शक्ति से सुसम्पन्न हो जाता है उससे अन्त:क्षेत्र की दिव्यशक्ति का आविर्भाव होता है। इसका मनःक्षेत्र के किसी भी शक्ति केन्द्र पर आरोपण किया जाय तो वह प्रसुप्त अवस्था में न रह कर जागृत होने लगती है। इस जागृति का तात्पर्य है एक अतिरिक्त शक्ति की उपलब्धि हस्तगत होना। इस प्रयोग को शरीर के किसी अवयव पर या शक्ति केन्द्र, चक्र, गुच्छक पर उपत्थिका परिकर पर केन्द्रित करके सम्पन्न किया सकता है। टार्च की रोशनी जिस स्थान पर पड़ती है, वह परिधि चमकने लगती है। ठीक इसी प्रकार प्रकाश युक्त ध्यान को जिस भी स्थान के साथ जोड़ा जाता है, वहां अभिनव हलचल चल पड़ती है। कील ठोंकने पर जिस पदार्थ में छेद होता है, तुरन्त नीचे की परतों में से दबा हुआ पदार्थ ऊपर उछलकर आ जाता है। इसी प्रकार यह ध्यान धारणा भी फलित होती है। आपरेशन करने पर मवाद बाहर निकल पड़ता है। मधुमक्खी के छत्ते में नली डालने पर शहद टपकने लगता है, उसी प्रकार प्रकाश से समाहित एका-

ग्रता का किसी क्षेत्र पर आरोपण करने से कील ठोकने जैसी प्रतिक्रिया होती है। उसमें भरी हुई अवांछनीयताओं का आपरेशन की तरह निष्कासन होता है। साथ ही वहां जो कुछ श्रेष्ठ प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है वह जागृत होकर अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष स्तर पर आ जाता है। आगे का प्रश्न यह है कि ध्यान द्वारा उपलब्ध की गई वेधक दिव्य दृष्टि को किस स्थान पर किस प्रयोजन के लिए कितनी मात्रा में नियोजित किया जाय। यह निर्णय करने से पूर्व यह जानना होता है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में किसी दिव्य शक्ति का केन्द्र कहाँ है और उसके साथ संबंध जोड़ने के लिए बेधक दृष्टि को किस मार्ग से कितने मोड़-मरोड़ों से होकर गुजरते हुए पहुँचा जा सकता है।

इतनी बारीकी में जा सकने की सिद्धहस्त सर्जन जैसी योग्यता किसी अनुभवी का सान्निध्य प्राप्त करके जान सकना संभव न हो तो फिर एक सीध मार्ग है–'स्थूल शरीर की दिव्य क्षमताओं को जागृत करने के लिए नाभिचक्र के दिव्य कमल को ऊर्जा प्रदान करते हुए उसका प्रस्फुटन, स्फुरण एवं जागृति। सूक्ष्म शरीर का केन्द्र हृदय चक्र है और कारण शरीर की भाव संवेदनाओं का उद्गम मस्तिष्क मध्य में अवस्थित सहस्र दल कमल ब्रह्मचक्र। इनको झकझोरने से भी दिव्य रस एवं दिव्य गंध जैसा अलौकिक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

—★—

ध्यान-धारणा का स्वरूप और उद्देश्य

ध्यान धारणा के अनेकानेक प्रकार और प्रयोग हैं। उनमें से किसी को अपनाने से पूर्व उसकी प्रतिक्रिया और परिणति के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना चाहिए। अन्ध श्रद्धा से प्रेरित होकर किसी तथा कथित मार्गदर्शक के कथन प्रोत्साहन को आँखें बन्द करके अपना नहीं लेना चाहिए, अन्यथा अनुपयुक्त चयन हानिकारक भी हो सकता है। जिस लाभ की कल्पना की गई थी उसका मिलना तो दूर उलटे हानिकारक परिस्थितियों में फंसना पड़ सकता है।

ध्यान के प्रथम चरण में साधक को अपना समर्पण भाव अपने इष्ट के साथ तादात्म्य करना पड़ता है। द्वैत को अद्वैत में बदलना पड़ता है। ईंधन अपने को आग में झोंकता है तो वह कुछ ही देर में अग्नि रूप हो जाता है। इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उस दिव्य केन्द्र की दिव्य क्षमता का अवतरण साधक की समग्र सत्ता में होने लगता है। समर्पण की प्रतिक्रिया अवतरण है। रबड़ की गेंद जिस कोण से जिस स्थान पर जितने जोर से फेंकी जाती है, वह लक्ष्य से टकराने के बाद उतनी ही तेजी से उसी मार्ग से वापिस लौटती है। ध्यान के साथ जुड़ी हुई श्रद्धा, शक्ति बन कर प्रयोक्ता के पास शब्द बेधी वाण की तरह वापिस लौटती है। लौटते समय वह अधिक परिष्कृत स्तर की होती है। उसमें इष्ट की विशेषता भी जुड़ी होती है। इसका प्रयोग किस हेतु किया जाय, यह निर्णय करना साधक की अपनी विवेक बुद्धि पर निर्भर है। भागीरथ, पार्वती, दधीचि, विश्वामित्र

वशिष्ठ आदि ऋषिगणों ने अपनी तपश्चर्या का प्रतिफल पुण्य प्रयोजनों के लिए किया था। किन्तु आत्म शोधन किए बिना जो आतुर साधना प्रयोजन में जुट गए, उनकी दुर्बुद्धि उपलब्ध सामर्थ्य का सदुपयोग न कर सकी। वृतासुर भस्मासुर, रावण, हिरण्यकश्यप, मारीचि आदि ने उसका दुष्ट प्रयोजन के लिए उपयोग किया। फलतः उनके ऊपर विनाश बरसा और अपयश भी। इसलिए साधना से पूर्व आत्म शोधन के प्रथम चरण को पूरा कर लेने के लिए जोर दिया जाता रहा है। साधना से सिद्धि का मिलना तो निश्चित है। पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी साथ में जुड़ा हुआ है कि उसे किसलिए प्रयुक्त किया जाय? उपलब्धि के पीछे क्या आकांक्षा रही और जब कुछ हाथ लगा तो उसका किस निमित्त उपयोग बना पड़ा? यह सब परिष्कृत दृष्टिकोण पर निर्भर है। यदि उद्देश्य के पीछे उत्कृष्टता का समावेश न हो तो अध्यात्म मार्ग पर चलकर हस्तगत की गई उपलब्धियाँ भी भौतिक सम्पदा के दुरुपयोग करने पर उपलब्ध होने वाले दुष्परिणाम की तरह अनर्थकारी ही सिद्ध होती हैं।

आमतौर से देवी देवताओं के ध्यान ही किए जाते हैं। अध्यात्म साधना में वही पुरातन प्रचलन है। पर देव वर्ग में से किसी को चुनने से पूर्व यह निरख परख लेना चाहिए कि उपास्य की प्रकृति क्या है? अनेक देवी देवता तमोगुणी भी हैं। उनके स्वभाव, व्यवहार, प्रयास चरित्र जैसे पक्षों में अनैतिकता की भरमार होती है। इसमें से कई मांसभोजी, मद्य पायी, आक्रमणकारी, युद्ध प्रिय होते हैं। इनकी उपासना साधक में उन्हीं दुर्गुणों का आविर्भाव करेगी। कुछ दिन में उसकी प्रकृति में उन्हीं दुर्गुणों की भरमार होने लगेगी। तन्त्र साधना में यही होता है। इसमें तमोगुणी देवताओं को सिद्ध किया जाता है और उस आधार पर मिले अनुदानों को मारण, मोहन, उच्चारन, वशीकरण, स्तम्भन जैसे हेय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कर्म अपना प्रतिफल निश्चित रूप से देते हैं और लौट कर प्रयोक्ता के पास देर सबेर में वापिस लौट आते हैं, इसमें दूसरों का

अनिष्ट करने वाले स्वयं भी उस कुकृत्य के दुष्परिणाम से बचे नहीं रह सकते। इस तथ्य को समझते हुए प्रारम्भिक चयन में समुचित सावधानी बरती जानी चाहिए। सात्विकता का अवलम्बन ही श्रेयस्कर समझा जाना चाहिए। आदर्शवादी उदार चेताओं में हनुमान, नारद, बुद्ध जैसों की गणना होती है और देवियों में सरस्वती, पार्वती, गायत्री जैसे इष्टों को उच्चस्तरीय माना जाता है। उनमें आदर्शवादी विभूतियों की विशिष्टता गिनी जाती है।

जिन्हें देवी देवताओं में रुचि नहीं, वे किन्हीं आदर्शों को अपने में विकसित करने के लिए उनका प्रतीक कमल पुष्प भी मान सकते हैं। इस मान्यता में मात्र छवि का ही ध्यान नहीं करना चाहिए वरन् उन पर आरोपित विभूतियों, का भी समन्वय रखना चाहिए। यह तथ्य प्रत्येक ध्यान केन्द्र के सम्बन्ध में लागू होता है। यदि मात्र छवि को ही आधार माना गया है और उसके साथ अभीष्ट गुणवत्ता का आरोपण नहीं किया गया है तो छवि दर्शन मात्र कौतूहल की ही पूर्ति करता है। साधक को वह अनुदान प्रदान नहीं कर सकता, जो गुणवत्ता का समन्वय रखे रहने पर मिल सकता था।

महामानवों को भी इष्ट मानकर चला जा सकता है और उनके अनुकरण के लिए आतुर रहा जा सकता है। विवेकानन्द, दयानन्द, गान्धी विनोबा जैसे आदर्शों के धनी भी यदि अपनी ध्यान धारणा का केन्द्र रहें तो हर्ज नहीं। गाय जैसे पशु, हंस जैसे पक्षी, पीपल जैसे वृक्ष भी आराधना के केन्द्र रखे जाने पर अपनी सत्ता में समाहित विशेषताएँ साधक को प्रदान करते रह सकते हैं।

वेदान्त दर्शन में अन्तरंग की उत्कृष्टता को ही परब्रह्म माना गया है सोहम्, शिवोहम्, सच्चिदानन्दोहम्, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म जैसे सूत्रों में आत्मा और परमात्मा की एकता का सिद्धान्त स्वीकारा गया है। पर यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि आत्मा का शुद्ध श्रेष्ठ, उत्कृष्ठ स्तर ही इस प्रतिपादन के अनुरूप बनता है। यदि दोष, दुर्गुणों, दुव्यसनों की कीचड़ से सनी हुई चित्त चेतना को अपना स्वरूप मानने की भूल की गई तो जुड़े हुए

दुर्गुण भी परब्रह्म के स्वरूप बन जायेंगे और साधक निकृष्टता को भी अपनाए रहेगा और उनके निराकरण की आवश्यकता न समझेगा। वेदान्त का वास्तविक प्रतिपादन है आत्मा में संव्याप्त परमात्मा की दिव्य चेतना के साथ सम्बन्ध साधना। उसके साथ माया जाल की तरह गुंथ गई निकृष्टता के प्रति तो तिरस्कार एवम् परिशोधन का भाव रखना ही है। स्मरण रहे, दुष्प्रवृत्तियाँ बिना संघर्ष के हटती नहीं हैं। इसके लिए तप तितीक्षा भी, समय साधना और परमार्थ परायणता के त्रिविध अभ्यास भी अनिवार्य रूप से करने होते हैं।

सोहम् साधना यों प्राणायाम के माध्यम से चलती हैं। सांस खींचने के साथ "सो" और छोड़ते समय "हम्" की ध्वनि पर ध्यान एकाग्र करने के साथ यह भाव भी सघन रखना पड़ता है कि वह (परमात्मा) एवं ऽहम् (आत्मा), दोनों के बीच सघन समन्वय और आदान प्रदान का जो उपक्रम चलता है, उसे अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाय। इस प्रकार प्राण योग द्वारा भी अद्वैत एकात्मता की साधना हो सकती है। जप काल में दिव्य प्रतिमा की अन्तरात्मा के साथ अपनी आत्माका समर्पण विलय अनुभव करते रहने से भी यही परिणाम उपलब्ध किया जा सकता है।

छाया पुरुष या दर्पण साधना के पीछे भी यह उद्देश्य जुड़ा हुआ है। धूप में या प्रकाश की ओर पीठ करके खड़ा होने पर शरीर की छाया सामने आ जाती है। उसे अपना शुद्ध स्वरूप सामने उपस्थित समझा जा सकता है। इससे भी अधिक सुगम दर्पण साधना है। समस्त शरीर का प्रतिबिम्ब दिखा सकने वाला आदम कद दर्पण हो तो उत्तम। अन्यथा उसका आकार इतना तो होना ही चाहिए जिसमें बैठने पर चेहरे की प्रतिच्छाया समान आकार में दीख पड़े। इसको विशुद्ध आत्म सत्ता की प्रत्यक्ष छवि माना जाय। उसमें दिव्य सद्‌गुणों का सघन समावेश अनुभव किया जाय। साथ ही इसके दुर्गुण कषाय कल्मष हिम ऋतु में झड़ जाने वाले पत्तों की तरह झड़ते जाने की

मान्यता को अधिकाधिक प्रखर किया जाय। यही आत्म दर्शन है। इसकी महिमा भी देव दर्शन के समतुल्य है।

छवि निर्धारण एकाग्र समर्पण का अवधारण एवम् उत्कृष्टता का आरोपण इन तीनों का समन्वय होने पर ही ध्यान की पूर्णता बनती है। मात्र छवि पर कल्पना को केन्द्रित करने से अध्यात्म प्रगति का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उतने भर से तो मात्र एकाग्रता सम्पादन में थोड़ी सहायता भर मिलती है। यों एकाग्रता साधना भी भौतिक और आत्मिक प्रगति के काम आने वाली आवश्यक उपकरण जैसी उपलब्धि ही है। पर उतने तक सीमित रहकर आत्मोत्कर्ष का महान प्रयोजन पूरा नहीं होता।

परब्रह्म को सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय मानना और उन विभूतियों का भक्ति भावना के माध्यम से जीवन चर्या में समावेश होना, यही है ध्यान-धारणा का वास्तविक स्वरूप। यही है दैवी अनुग्रह और आत्मिक प्रगति का स्पष्ट चिन्ह। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक आकार-प्रकार की विविध विधि ध्यान धारणाएँ की जाती हैं। इस तथ्य को कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए।

सर्वथा निराकार का ध्यान जिन्हें अभीष्ट हो, वे नाद योग की साधना कर सकते हैं। कानों को बन्द करके अनाहत दिव्य ध्वनियां सुनी जाती हैं। गहराई में उतरने और अन्तराल में उठती दिव्य ध्वनियों के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर कई प्रकार के चित्र विचित्र शब्द सुनाई पड़ते हैं। शंख, घण्टा, घड़ियाल, मृदंग, नफीरी गर्जन, बंशी आदि से मिलते-जुलते वे शब्द होते हैं। आरम्भ में ध्वनियां अतीव मन्द होती हैं और रुक-रुक कर सुनाई पड़ती हैं। पर अभ्यास करते रहने से उनमें स्पष्टता,समस्वरता आती जाती है। यह शब्द श्रवण भी साथ में सोऽहम् की अनुभूति होने के सदृश्य है। छवियों को नेत्र बन्द कर लेने पर भी आभास होते रहने में भी तथ्य का समावेश है। इस स्तर की कोई भी साधना क्यों न हो, उनके साथ उत्कृष्टता

की पक्षधर भाव संवेदनाओं का जुड़ा रहना आवश्यक है। क्योंकि आत्म परिष्कार की बात इसी समन्वय के आधार पर बनती है। आत्म परिष्कार की प्रवृत्ति दो स्वरूप धारण करती है। एक प्रत्यक्ष और परोक्ष दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और आदर्शवादी दिव्य सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन। परम कल्याण का, ईश्वर साक्षात्कार का स्वर्ग मुक्ति का यही आधार है। इस गन्तव्य तक पहुँचने के लिए ही अनेक स्तर की ध्यान धारणाओं में से किसी एक का या किन्हीं का चयन किया जाता है।

अध्यात्म अवलम्बन का सच्चा मार्ग और प्रतिफल

यह विशाल ब्रह्माण्ड असीम और अनन्त शक्तियों का महान भण्डागार है। इस विशालता के महासागर में कितने प्रचुर परिमाण में दिव्यता, विचित्रता एवं क्षमता भरी पड़ी है, इसकी मनुष्य की सीमित बुद्धि परि-कल्पना तक नहीं कर सकती।

ब्रह्माण्ड की विशालता को देखते हुए अपनी आकाश गंगा, अपना सौर मण्डल और उसके अत्यन्त छोटे भाग को घेरे हुए भूमण्डल का अस्तित्व नगण्य है। धरती पर बसने वाले कोटानुकोटि प्राणियों में मनुष्य जाति मुट्ठी भर है। इसमें भी एक मनुष्य की सत्ता तो इतनी नगण्य है जिसे बाल के नोक से भी कम माना जा सकता है। मनुष्य की सत्ता में उसका शरीर, मस्तिष्क एवं साधन सम्पदा ही गिने जाने योग्य है। इस परिधि में भी इतनी अधिक आश्चर्य जनक रहस्यमयी सामर्थ्य सन्निहित है जिसका मात्र एक अत्यन्त छोटा भाग कार्यान्वित होता है। शेष अधिकांश भाग तो प्रसुप्त स्थिति में ही पड़ा रहता है। यदि मनुष्य की दृश्य मान कलेवर की शक्तियाँ ही जगाई, काम में लाई जा सकें, तो उतने भर से मनुष्य अगणित विभूतियों का स्वामी बनकर अत्यन्त विशिष्ट विकसित सामर्थ्यों का भण्डार बनकर प्रकट हो सकता है। उसकी निजी क्षमता ऋद्धि सिद्धियों से भरी पूरी दृष्टि-गोचर हो सकती है। इसके आगे वे अनेकों सूत्र ब्रह्माण्ड के अनेक घटकों के साथ जुड़ते हैं, जो अपनी शक्ति मानवी सत्ता पर उड़ेल कर उसे देवोमय बना सकते हैं। उसे कुबेर जैसा सम्पन्न और इन्द्र जैसा सशक्त देखा जा सकता है। यह संभव उपलब्धियां कैसे हस्तगत हों ? उस प्रश्न का एक ही

उत्तर हो सकता है कि अध्यात्म विज्ञान के आधार पर जैव चुम्बकत्व को प्रचण्ड बना लिया जाय।

भौतिक विज्ञान के आधार पर कोई कितना ही उपार्जन संग्रह क्यों न कर ले पर उसके उपयोग की एक छोटी परिधि है जिससे अधिक के लिए हाथ पैर मारना अपने आपको संकट में डालना है। पेट से अधिक खाना शरीर सीमा से बढ़कर पहनना संभव नहीं। उपार्जन वैभव कितना ही अधिक क्यों न हो पर वह अपने स्थान पर ही रखा रहता है। बचत का दूसरे उपयोग करते हैं। किन्तु चेतना क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है। उसकी परिधि विशद है। सूक्ष्म शक्तियों के रूप में सम्पदा का अजस्र परिवार उसमें बीज रूप में भरा जा सकता है। उपलब्ध शक्तियों का जागरण और प्रभाव क्षेत्र का परिकर दोनों मिलकर इतने अधिक हो जाते हैं जिसका मूल्यांकन करने में देव दानवों को ही मापदण्ड बनाया जा सकता है।

देवता मनुष्य लोकों में आने के लिए ललचाते रहते हैं। उनकी उत्सुकता उससे कहीं अधिक है जैसा कि मनुष्य स्वर्ग लोक के सम्बन्ध में सोचता और वहां के आनन्द का रसास्वादन करने के लिए उत्सुक रहता है। इतिहास साक्षी है कि देवताओं ने मनुष्य से सहायता प्राप्त करने के लिए अनेक बार याचना की है। दशरथ अपना रथ लेकर देवताओं की सहायता करने गए थे। साथ में कैकेयी भी थीं, जिनने पति की सहायता करके तीन तीन वरदान प्राप्त किए थे। अर्जुन का इसी प्रयोजन के लिए देवलोक जाना प्रसिद्ध है। जहाँ उनके सम्मुख अनिद्य सुन्दरी उर्वशी प्रस्तुत की गई थी और गाण्डीव धनुष उपहार में दिया गया था। देवताओं को मानुषी नारी के साथ सम्पर्क साधने में अप्सराओं की सेवा से अधिक रसास्वादन आता है। इन्द्र और चन्द्र का अहिल्या पर मन डिगाने का आख्यान, कुन्ती से अनुरत होकर उसके गर्भ से संतानोत्पादन का उपक्रम यही बताते हैं कि धरती का वैभव स्वर्ग से कहीं अधिक है। यदि ऐसा न होता तो देव सुन्दरी

मेनका विश्वामित्र की सहचरी बनने के लिए क्यों आतुर होती और क्यों इतनी लम्बी दौड़ लगाती।

भगवान को ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों की व्यवस्था का दायित्व संभालना पड़ता है। पर वे धरित्री का विशेष ख्याल रखते हैं। जब भी यहाँ असंतुलन पैदा होता है तभी प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए अधर्म के उन्मूलन और धर्म के अभिवर्धन के लिए इसी धरातल पर विशेषतया भारत देश में अवतार धारण करते हैं। दस या चौबीस अवतार इसी मनुष्य लोक में, विशेषतया भारत देश में हुए हैं। इस भूमि को स्वर्गादपि गरीयसी कहा गया है। पुरातन काल के सतयुगी मनुष्य देव मानव कहे जाते थे। मनुष्य जन्म को सुरदुर्लभ कहा गया है। देवता यज्ञादि उपासनात्मक कर्मकाण्ड द्वारा अपना पोषण प्राप्त करने के लिए मनुष्यों से ही आशा अपेक्षा करते रहते हैं। जब वैसा कुछ उन्हें मिल जाता है तो प्रसन्न होकर मनोवाँछित वरदान प्रदान करते हैं। मनुष्यों की संकल्प शक्ति देवताओं को स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के लिए विवश करती रही है। भागीरथ ने गंगा को स्वर्ग से उतरकर पृथ्वी पर बहने के लिए विवश किया था। वृत्रासुर से संत्रस्त होकर देवगण महर्षि दधीचि से अस्थियां लेकर वज्र बनाने और संकट से त्राण पाने में सफल हुए थे। हरिश्चन्द्र की आदर्शवादिता पर पुलकित होकर देवता स्वर्ग से पुष्प वर्षा करने के लिए दौड़ पड़े थे। सूर्य पुत्र कर्ण का पराक्रम और आदर्शवाद प्रख्यात है।

मानवी सत्ता देववर्ग से कहीं अधिक है। पर वह आमतौर से प्रसुप्त स्थिति में मूर्छित पड़ी रहती है। जग पड़े तो कुण्डलिनी बनकर अपनी ज्वाल माल से क्षेत्र विशेष को प्रचण्डता से ओत-प्रोत करती देखी गई है। यदि वैसा न बन पड़े तो मात्र हाड़-माँस के पिटारे जैसा दोष दुर्गुणों से लिपटी हुई दीन-दुर्बल, दरिद्र, अनाथ, उपेक्षित, तिरस्कृत बनकर रहती है। आत्म प्रताड़ना और लोक भर्त्सनायें उसे शूलती हुलाती रहती है। भव बन्धनों से जकड़ा हुआ मानव कोल्हू के बैल की तरह घिसता पिसता

हुआ किसी प्रकार मौत के दिन पूरे भर कर पाता है।

काया स्वस्थ समर्थ हो तो मात्र युवावस्था की थोड़ी सी अवधि में बलिष्ठ, सुन्दर, प्रबुद्ध, सम्पन्न, स्वतंत्र, स्वच्छन्द रहा जा सकता है। बचपन और बुढ़ापे का अधिकांश समय तो अपंग, असमर्थ, परावलम्बी जैसी स्थिति में किसी प्रकार गुजर करने में बीतता है। जराजीर्ण स्थिति में तो रोग शोक से कलपते कराहते दिन बीतता है। उस स्थिति में मौत के दिन गिनने पड़ते हैं। उसी के अंचल में मुँह छिपा लेने के लिए विवशता भरी उत्सुकता चढ़ी रहती है। किन्तु आत्मिक प्रगति शीलता इससे सर्वथा भिन्न है। यदि उस दिशा में प्रगति कर सकना बन पड़े तो लोक परलोक में समान रूप से संतोष छाया, ओजस उभरा और उल्लास आनन्द का रसास्वादन करते रहने की परिस्थिति निरन्तर बनी रहती है। आत्मिक प्रगति अकेली ही ऐसी है जिस पर अनेकानेक भौतिक सफलताओं को निछावर किया जा सकता है। बुद्ध गान्धी सरीखे आत्मवान अस्सी वर्ष से अधिक समय सन्तोष सम्मान भरा जीवन जीते रहे और सदा सर्वदा के लिए अजर अमर हो गये। अपनी अनुकरणीय अभिनन्दनीय स्तर की उपस्थिति इतिहास के पृष्ठों पर युग युगान्तरों के लिए छोड़ गये। आत्मिक प्रगति की महिमा जितनी बखानी जा सके, उतनी ही कम है। आत्मवान् स्वयं तो विभूतिवान होकर जीता ही है, अपने अनुदानों से अपने समय और परिकर को हर दृष्टि से कृत-कृत्य करता है। भौतिक क्षेत्र में केवल स्वल्प कालीन उन्नति ही की जा सकती है। चिरस्थाई प्रगति का अर्थ तो आध्यात्मिक उपलब्धियां अर्जित करने के अतिरिक्त और कुछ होती नहीं। उसी के साथ प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष श्रेय जुड़ा हुआ है। अस्तु दूरदर्शिता इसी में है कि आत्मोन्नति का ताना-बाना बुना जाय, भले ही वह कष्ट साध्य ही क्यों न हो! भले ही उसके लिए सामयिक सुख सुविधाओं में, तृष्णा महत्वाकांक्षाओं में कटौती ही क्यों न करनी पड़े। आत्मा को ऊँचा उठाना आरम्भ कर दिया जाय तो वह विकसित होते-होते देवात्मा परमात्मा का स्तर प्राप्त कर लेती है।

शरीर सम्बन्धित उपलब्धियों की भी एक सीमा है। तृष्णा बढ़ी चढ़ी कितनी ही क्यों न हो पर प्रकृति अंकुश के कारण उसका संग्रह एवं उपयोग एक सीमा तक ही हो सकता है। सीमित समय तक ही वह वैभव पास में रह सकता है। मृत्यु का ग्रास बनना हर किसी के लिए अनिवार्य ही है। ऐसी दशा में यदि असीम और अनन्त की स्थिरता के सम्बन्ध में सोचा जाय तो फिर आत्मिक प्रगति और आध्यात्मिक सिद्धि सम्पदा पर ही विचार करना पड़ेगा। उसी दिशा में कदम बढ़ाना पड़ेगा। सांसारिक क्षेत्र के सुसम्पन्नों के साथ संपर्क साधना और उनकी अनुकम्पा अर्जित करना सरल नहीं है। पर अदृश्य क्षेत्र में जिन सूक्ष्म सत्ताओं का स्वच्छन्द निवास—है उनके साथ आत्मिक मार्ग पर चलते हुए सरलता के साथ जुड़ा जा सकता है। उनका परामर्श सहयोग विपुल परिमाण में प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार याचक को सम्पन्न दानशीलों की तलाश रहती है, उसी प्रकार हर क्षेत्र के सुसम्पन्न अपने मित्र साथी तलाशते रहते हैं। उत्तराधिकारी की खोज सभी को रहती है। पाने की तरह देने का भी आनन्द होता है। इसे माता-संतान के, पति-पत्नी के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट ही जाना जा सकता है। सूक्ष्म जगत की महान शक्तियाँ अपनी अनुकम्पा बरसाने के लिए बादलों की तरह आतुर रहती हैं। वे उपयुक्त भूमि पर बरसती भी हैं। रेगिस्तानों पर से तो मेघमालाएँ बिना रुके पलायन कर जाती हैं।

साधना से सिद्धि का सिद्धान्त शत प्रतिशत सही है। श्रमशीलता के सहारे मात्र सम्पदा अर्जित की जा सकती है, सो भी येन केन प्रकारेण उनके चलने के लिए अपना रास्ता बना लेती है। परन्तु अध्यात्म सम्पदा के संचय के बारे में यह बात नहीं है। वह स्थिर ही नहीं रहती, बैंक ब्याज की तरह बढ़ती भी रहती है। पल्लवित वृक्षों की टहनियों की तरह फलती फूलती भी रहती हैं। बांटने पर विद्या की तरह उसकी अभिवृद्धि होती, परिपक्वता बढ़ती देखी जाती है।

भौतिक क्षेत्र में सफलता असफलता के, सम्पन्नता-विपन्नता के ज्वार भाटे आते रहते हैं। दिन-रात की तरह अनुकूलता-प्रतिकूलता का उलटफेर परिवर्तन होता रहता है किन्तु अध्यात्म क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं है। उस दिशा में बढ़ता हुआ हर कदम आगे की मंजिल ही पार करता है। उसमें पीछे लौटने जैसी आशंका है नहीं। जब कभी इस राजमार्ग के पथिक का असफलता मिले तो समझना चाहिए कि दिशा भूल के भटकाव में उसे कहीं उलझना पड़ गया है। सही मार्ग पर, सही गति से, सही तैयारी के साथ जो भी इस क्षेत्र में बढ़ा है, उसे क्रमिक प्रगति का समुचित लाभ मिलता रहा है। उसे निराश होने का, पछताने का कुयोग कभी भी मिला नहीं है। उसे भाग्य को कभी कोसना नहीं पड़ा है।

स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का त्रिविधि संयोग हर साधक को अपने साथ संजोये रखना चाहिए। परमसत्ता के साथ अपने आपको समर्पित विसर्जित कर देना ही ईश्वरावलम्बन है। ईश्वर, जिसकी उपासना की जाती है, वह है 'सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय।" उत्कृष्टता-आदर्शवादिता का समन्वय" मात्र पूजा करने से नहीं, आत्मा को परमात्मा के साँचे में ढाल लेना ही योगाभ्यास है।

चिन्तन और चरित्र को शालीनता से समन्वित करना—आत्म परिशोधन में निरत रहना ही आध्यात्मिकता है और कर्तव्यों के परिपालन में कटिबद्ध रहना धार्मिकता। इन तीनों को अपनाए रहने वाला ही सच्चा अध्यात्मवादी और सफल साधक होता है।